इकाई–1 : अहिंसा, हिंसा का स्वरूप एवं क्षेत्र, हिंसा का अनौचित्य, अहिंसा का स्वरूप एवं आवश्यकता, अहिंसा का आदिस्रोत, आत्मा का अस्तित्व एवं अहिंसा, अहिंसा व्यापक एवं विधायक, अहिंसा–उच्च सक्रिय भावना

संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 अहिंसा का इतिहास

1.3 हिंसा का स्वरूप एवं क्षेत्र

- 1.3.1 हिंसा का अर्थ
- 1.3.2 हिंसा के रूप
- 1.3.3 हिंसा के प्रकार

1.4 अहिंसा की अवधारणा

- 1.4.1 अहिंसा की परिभाषा
- 1.4.2 अहिंसा के रूप
- 1.4.3 अहिंसा क्यों?
- 1.4.4 अहिंसा के पोषक तत्त्व
- 1.4.5 अहिंसा का तात्विक विवेचन
- 1.4.6 हिंसा और अहिंसा के कार्य में भेद
- 1.4.7 अहिंसा की विशेषता
- 1.4.8 अहिंसा की आवश्यकता
- 1.4.9 अहिंसा का आदिस्रोत
- 1.4.10 विकास क्रम
- 1.4.11 अहिंसा : ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक दृष्टि
- 1.4.12 ऐतिहासिक दृष्टि
- 1.4.13 आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा
- 1.4.14 अहिंसा : व्यापक और विधायक
- 1.4.15 अहिंसा की शक्ति
- 1.4.16 स्थायी प्रभाव
- 1.4.17 उच्च सक्रिय भावना

1.5 सारांश

1.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.0 प्रस्तावना

अहिंसा भारतीय संस्कृति की वह धरोहर है, जो मानवीय सभ्यता के उन्नयन हेतु निरन्तर अवकाश प्रदान करती रही है। वास्तव में अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव जाति का। यद्यपि संसार के समस्त धर्म दार्शनिक परम्पराओं ने अहिंसा एवं इसके समीपवर्ती मूल्यों को मानव एवं समाज कल्याण हेतु आवश्यक माना है तथापि भारतीय परम्परा में इस विषय पर जितना सूक्ष्म चिन्तन देखने को मिलता है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

1.1 उद्देश्य

अहिंसा एवं शांति के स्नातक स्तर के विद्यार्थियों हेतु इस पाठ में अहिंसा से संबंधित विचारों को प्रस्तुत कर विषय संबंधी जानकारी दी जायेगी। इस इकाई के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा—

(अ) विषय का सामान्य परिचय

(ब) हिंसा का अर्थ, रूप, प्रकार आदि

(स) अहिंसा की अवधारणा, परिभाषा, रूप, अहिंसा क्यों, अहिंसा के पोषक तत्त्व एवं तात्त्विक विवेचना

(द) हिंसा और अहिंसा के कार्य में भेद, अहिंसा की विशेषता, हिंसा का अनौचित्य

(य) अहिंसा की आवश्यकता, अहिंसा का आदि स्रोत, विकास-क्रम, विस्तार, अहिंसा :ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि

(र) आत्मा का अस्तित्त्व और अहिंसा, अहिंसा : व्यापक और विधायक

(ल) अहिंसा की शक्ति, अहिंसा : उच्च सक्रिय भावना।

1.2 अहिंसा का इतिहास

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक व विवेकशील प्राणी होने के कारण मानव जाति का इतिहास अवनति का नहीं अपितु उन्नतिशील रहा है। अपनी विकास यात्रा के अन्तराल में मनुष्य समाज निरन्तर आदर्शों, नियमों, परम्पराओं आदि का निर्माण करता रहा है। लगभग 20 लाख वर्ष की यात्रा में मनुष्य के अस्तित्व को बनाये रखने तथा उसकी संस्कृति व सभ्यता का उन्नयन करने में विभिन्न आदर्शों तथा उदात्त भावनाओं ने सहयोग किया है। निश्चित रूप से मानव आज उतना सभ्य एवं सुसंस्कृत नहीं हो सकता था, यदि उसकी विकास यात्रा में अहिंसा, मैत्री, सहयोग, सहकार, बंधुत्व आदि ऐसे पावन व स्वच्छ मूल्य उनके अन्त:करण में नहीं होते। अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना पुराना मानव सभ्यता का इतिहास है। आदिकाल से ही मनुष्य ने शाश्वत व समकालीन मूल्यों को अपनी सभ्यता व संस्कृति में समाविष्ट किया। इनमें से कुछ विशिष्ट मूल्य, जिन्होंने मानव जाति के अस्तित्व को न केवल बनाये रखा बल्कि संस्कृति व सभ्यता के विकास में भी उल्लेखनीय योगदान किया है। अहिंसा इन्हीं शाश्वत मूल्यों की श्रृंखला में प्रथम व आवश्यक कड़ी है। मानव जाति के साथ अहिंसा प्रारम्भ से ही हमदर्द के रूप में साथ रही है। अहिंसा एक शक्ति है, एक पराक्रम है, एक वीर्य है। अहिंसा आन्तरिक ऊर्जा का विकास है। आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा है कि मानव जितना जीवन के बारे में जानता है, उतना मृत्यु के बारे में नहीं जानता। जीवन की शक्ति से हम जितने परिचित हैं, उतने ही मृत्यु की शक्ति से अपरिचित हैं। मृत्यु हमारी शत्रु नहीं बल्कि बहुत बड़ी मित्र है। हमारे मन में भय होता है तब हम उसे शत्रु मानते हैं। हमारा मन अभय होता है तो वह हमारी मित्र बन जाती है। जो व्यक्ति मृत्यु से जितना भयभीत रहता है, वह उतना ही हिंसक होता है। जो मृत्युंजय होता है, वह अभय और अहिंसक होता है। अहिंसा निर्मल चेतना की अनुभूति है। मानव जाति के साथ अहिंसा की संस्कृति निरन्तर पुष्ट ही होती रही है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि मानव ने अपनी विकास यात्रा काफी पहले से प्रारम्भ कर दी। वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रमाण यही बतलाते हैं कि मानव ने पशु जीवन से क्रमश: विकसित होकर मानवीय शारीरिक संरचना प्राप्त की। इस प्रक्रिया में उसने सृजन की क्षमता तथा चेतना के विकास का क्रम प्राप्त किया। तत्कालीन मानव को वर्तमान अवस्था तक पहुँचने में विभिन्न चरणों को पार करना पड़ा। इस अन्तराल में सहायक उदात्त मूल्यों ने सहायता दी। आदि मानव क्रमश: परिवार व सामाजिक परिस्थितियों को प्राप्त करने लगा, जिससे विश्वास, सहयोग, प्रेम, सहिष्णुता तथा सामुदायिक भावना का विकास होता गया। कालान्तर में मानव क्रमश: अग्नि, कृषि, पशुपालन से परिचित होता गया, जिस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कारण मानव की जीवनशैली में परिवर्तन आता गया तथा उसके सभ्य व सुसंस्कृत बनने के मार्ग और भी प्रशस्त होते गये। वैज्ञानिक परिकल्पनाओं के आधार पर निर्मित मानव विकास की यह अवधारणा निश्चित रूप से हमें अहिंसा के विकास का भी दर्शन कराती है।

प्रगति और विकास के इतिहास में मनुष्य निरन्तर सभ्यता एवं उन्नत संस्कृति की ओर अग्रसर होता रहा। विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ, यथा—जोर्डन, मैसोपोटामिया, मोहनजोदड़ो, हड़प्पा आदि के अवशेष भी हमारे इसी मत को सुदृढ़ करते हैं कि मनुष्य जाति निरन्तर उच्चता की ओर ही अग्रसर रही है। तत्कालीन समाज के सदस्यों की सुविधा एवं कल्याण की भावना, संहारक अस्त्र-शस्त्रों का अभाव, कला तथा मनोरंजन हेतु यहाँ का विकास एवं कला के द्वारा चित्रित तत्कालीन समाज का स्वरूप भी हमारे मत का समर्थन करता है। कालान्तर में विभिन्न धार्मिक व दार्शनिक परम्पराओं का विकास भी मनुष्य को नैतिक एवं अहिंसक बनाने में सहयोग करता रहा है। भारतीय एवं गैरभारतीय परम्पराएँ, यथा—वैदिक, जैन, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि ने निश्चित रूप से उदात्त भावनाओं, सभ्य आचरण, उच्च व पवित्र विचारों को प्रोत्साहित किया। प्राचीन, मध्य, आधुनिक काल में भी समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों ने भी अहिंसा व शांति की अवधारणा व इनको प्रयोग करने को प्रेरित तथा उत्साहित किया। आधुनिक युग तक आते-आते गाँधी व अन्य विचारकों ने अहिंसा को नया अर्थ, नया रूप प्रदान किया। जिस अहिंसा को अभी तक मुख्य रूप से व्यक्तिगत या धार्मिक क्षेत्रों से जोड़कर देखा जाता रहा, गाँधीजी ने इसे सामाजिक स्वरूप प्रदान किया तथा यह स्थापित किया कि अहिंसा की न केवल आवश्यकता है बल्कि इसकी अपनी अलग उपयोगिता भी है। राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक, चिकित्सीय जीवनशैली आदि से जोड़कर उन्होंने इसे सर्वस्वीकरणीय बनाया।

भारतीय संस्कृति में अहिंसा की अवधारणा प्राचीन काल से ही अनेक रूपों, सन्दर्भों और अनेकविध समसामयिक प्रारूपों को लेकर विकसित होती रही है। अहिंसा वस्तुतः भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का प्राण-तत्त्व है, जिसका प्रभाव हमारे दार्शनिक विश्लेषणों, धर्मिक विवेचनों, सामाजिक संघटनों और राजनैतिक क्रिया-कलापों में सरलता से देखा जा सकता है। अहिंसा मानव-अस्तित्व एवं धर्म-भावना का एक आधारभूत शाश्वत नैतिक मूल्य है और संसार की सभी परम्पराएँ मानवीय जीवन में मूल्यों की स्थापना के लिए प्रेम, करुणा, त्याग, सद्भाव, दया आदि से ओत-प्रोत हैं। अहिंसा प्रारम्भ काल से ही अपने विधेयात्मक रूप में प्रतिष्ठित रह कर मैत्री, करुणा, प्रेम, दया, दान, सद्भावना और विश्व के प्रति उन्नयन की आकांक्षा का दिग्दर्शन कराती है। मित्रता का भाव अथवा संत्रस्तों के प्रति करुणा की भावना बिना अहिंसक दृष्टि के संभव नहीं हो सकती। दीन-दुःखियों के प्रति सद्भाव का प्रस्फुटन किसी अहिंसक में ही संभव है। विश्व-बन्धुत्व के प्रति अनुराग अथवा प्राणी के प्रति अपनी आत्मा के समान सोचने का उपक्रम अहिंसा के आग्रही में देखा जा सकता है। अहिंसा की अवधारणा हमारे सांस्कृतिक जीवन में अनेक रूपों में विकसित होती रही है। हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीय चेतना इस शब्द की गौरवशाली परम्परा का एक विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करती है।

पच्चीस सौ वर्ष पश्चात् आज का युग फिर हमारे देश के इतिहास में ऐसा आया है, जब मानवधर्म की, अहिंसा के मौलिक और सृजनात्मक चिंतन, विवेचन, अध्ययन और प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता और अनुकूलता है तथा जिसमें अहिंसा के विचार, विवेचन और अनुभव को बल और दिशा मिली है। पश्चिम के वैज्ञानिक आविष्कार और औद्योगिक क्रांति, भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से उत्पन्न राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा दो विश्वयुद्धों ने मिलकर भारत में अहिंसा के नये चिंतन और प्रयोगों को गाँधीजी के नेतृत्व में जन्म दिया और उन्होंने जो विचार, आचरण और कार्य के बीज इस देश में छोड़े हैं, उनके परिणामस्वरूप यह चिंतन और आचरण आधुनिक विश्व की विचारधारा में आशापूर्ण तेजस्विता और मौलिकता प्राप्त करता हुआ लगता है। यह विचार हमें बताता है कि मानवता के मौलिक मूल्यों और गुणों से रहित होकर जीना नहीं है। मानव संस्कृति हिंसा, द्वेष, असत्य, अनीति और विलासिता पर नहीं टिक सकती। हिंसा नहीं, अहिंसा मनुष्य की मूल प्रकृति है और उसका धर्म है।

1.3 हिंसा का स्वरूप एवं क्षेत्र

सामान्यतः अहिंसा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले इसका ज्ञान किया जाए कि हिंसा क्या होती है, और जब हिंसा का ज्ञान होता है तो स्वतः अहिंसा का स्वरूप भी सामने आता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3.1 हिंसा का अर्थ

हिंसा क्या है? इस प्रश्न के समाधान में कहा जा सकता है कि किसी प्राणी को प्राण-विहीन करना, दूसरे से प्राण विहीन करवाना या किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्राणी को प्राण-विहीन करते हुए देखकर उसका अनुमोदन करना, किसी प्राणी पर शासन करना, दास बनाना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, सताना या अशांत करना भी हिंसा है। गाँधीजी ने हिंसा की अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'कुविचार हिंसा है, उतावली हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।' गाँधीजी के अनुसार अहम् या अहमत्व पर आधारित जितनी भी मानुषिक क्रियाएँ हैं, वे सभी हिंसा ही हैं, जैसे—स्वार्थ, प्रभुता की भावना, जातिगत विद्वेष, असन्तुलित एवं असंयमित भोगवृत्ति, विशुद्ध भौतिकता की पूजा, अपने व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों का अंधसाधन, शस्त्र और शक्ति के आधार पर अपनी कामनाओं की संतृप्ति करना, अपने अधिकार को कायम रखने के लिए बल का प्रयोग तथा अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण आदि। जैन ग्रंथ आचारांग के अनुसार किसी प्राणी की स्वतंत्रता का किसी भी रूप में हनन भी हिंसा है। इसमें प्राणी या जीव को मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट-पतंगों के अर्थ में ही नहीं, अपितु व्यापक अर्थ में लिया गया है, जिसमें उन जीवों का भी समावेश हो जाता है, जिन्हें सामान्य जन जड़ या अजीव कहते हैं। आचारांग में सभी प्राणियों को छः वर्गों में रखा गया है। ये वर्ग हैं—पृथ्वीकाय जीव, जलकाय जीव, अग्निकाय जीव, वायुकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव और त्रसकाय जीव।

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है—प्रमाद से जो प्राणघात होता है, वही हिंसा है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्राण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवती सूत्र में कहा गया है कि जीव आभ्यन्तर श्वासोच्छवास तथा बाह्य श्वासोच्छवास लेने के कारण प्राण कहा जाता है। जिस शक्ति से हम जीव का किसी-न-किसी रूप में जीवन देखते हैं, वह शक्ति प्राण है, जिनके अभाव में शरीर प्राणहीन हो जाता है।

1.3.2 हिंसा के रूप

हिंसा के दो रूप हैं—भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा। मन में कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) का जाग्रत होना भाव हिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्य हिंसा कहलाती है। अर्थात् मन, वचन और काय के दुष्प्रयोग से जो प्राणहनन या दुष्क्रिया होती है, वही हिंसा है।

1.3.3 हिंसा के प्रकार

हिंसा के दो प्रकार हैं—1. अर्थ हिंसा, 2. अनर्थ हिंसा।

अर्थ हिंसा—जो व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति, परिवार, मित्र, घर, देवता आदि के लिए त्रस एवं स्थावर प्राणियों का स्वयं घात करता है, दूसरों से करवाता है, घात करते हुए को अच्छा समझता है, वह अर्थ हिंसा है।

अनर्थ हिंसा—जो व्यक्ति किसी प्राणी को अपने शरीर की रक्षा या अन्य उपयोगिता हेतु नहीं मारता किन्तु बिना प्रयोजनवश, कुतूहलवश प्राणियों को मारता है, छेदन-भेदन करता है, अंगों को काट डालता है, उपद्रव करता है, चपलतावश वनस्पतियों को उखाड़ता है, वह अनर्थ हिंसा है।

कुछ विचारकों ने हिंसा के चार प्रकार बतलाए हैं—

संकल्पी हिंसा—सोच-विचार कर पहले से मारने का उद्देश्य बनाकर किसी प्राणी के प्राण हनन करना।

आरम्भी हिंसा—भोजनादि तैयार करने में जो हिंसा होती है।

उद्योगी हिंसा—खेती-बाड़ी, उद्योग-धन्धे आदि करने में जो प्राणातिपात होता है।

विरोधी हिंसा—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिंसा की उत्पत्ति कषायों के कारण होती है। ये कषाय चार होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हीं कषायों के कारण हिंसा करने का विचार मन में आता है, हिंसा करने के लिए उपक्रम किये जाते हैं, जो प्राणघात तक की क्रियाओं तक पहुंच सकती है। इस संसार में जो भी देहधारी है, वह किसी-न-किसी रूप में हिंसा करता ही है। यदि वह एक जगह स्थिर ही रहता है तो भी वह भोजन स्वरूप अन्न, फल, वनस्पति आदि तो ग्रहण करता ही है। अपने शरीर एवं अस्तित्व की सुरक्षा हेतु मनुष्य को कुछ विशेष प्रकार की हिंसा तो करनी ही पड़ती है। इन हिंसाओं के प्रमुख तीन कारण हैं—

1. व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण—भोजन आदि ग्रहण करने में हिंसा होती है, इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ हैं क्योंकि भोजन से अपने शरीर की रक्षा होती है।

2. परमार्थ के कारण—अन्य की सुरक्षा एवं शरण आदि हेतु की जाने वाली हिंसा।

3. किसी प्राणी की सुख-शांति के लिए की जाने वाली हिंसा। यदि शरीर के किसी अंग में घाव हो जाए तो कभी-कभी इस अंग को काटना पड़ता है। गाँधीजी ने अपने आश्रम में एक मरणशील बछड़े को पीड़ामुक्त करने हेतु उसे मारने की आज्ञा दी थी।

इन तीनों में से प्रथम दो हिंसा का होना अनिवार्य है क्योंकि यदि हिंसा का ध्यान करते हुए कोई व्यक्ति भोजन छोड़ दे या सुरक्षा आदि प्रश्नों को गौण कर दे तो ऐसी हालत में जीवन बचाए रखना कठिन हो जाएगा। अत: इन दोनों में हिंसा का कुछ अंश है। किन्तु तीसरे प्रकार में शुद्ध अहिंसा है क्योंकि ऐसी हिंसा में हिंसक का कोई अपना स्वार्थ नहीं होता। यहाँ हिंस्य जीव को सुख पहुंचाने की दृष्टि से हिंसा की जाती है। हिंसा करने से प्राय: समझा जाता है कि जो पक्ष दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है, सभी कष्टों से मुक्त होता है। किन्तु ऐसा समझना सर्वथा गलत है। जब व्यक्ति के मन में कषाय का जागरण होता है तो उसके मन और तन दोनों में ही विकृति आ जाती है। अत: परघात करने से पूर्व वह हिंसक व्यक्ति आत्मघात ही करता है। इस प्रकार हिंसा किसी के लिए भी श्रेय नहीं है। कषायगत हिंसा न केवल हिंस्य के लिए अहितकारी है, अपितु स्वयं हिंसक के लिए भी अहितकारी है, इसलिए हिंसा का कोई औचित्य नहीं हो सकता।

1.4 अहिंसा की अवधारणा

अहिंसा सम्बन्धी अन्य प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि अहिंसा किसे कहते हैं तथा उसका वास्तविक अर्थ क्या है? अहिंसा मानव-जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिन्दु है। लौकिक और लोकोत्तर—दोनों ही प्रकार के मंगल-जीवन का मूलाधार 'अहिंसा' है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ या हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। मानव सभ्यता के उच्च आदर्शों का सही-सही मूल्यांकन अहिंसा के रूप में किया जा सकता है।

अहिंसा का सामान्य अर्थ है—अ + हिंसा। यानि हिंसा का अभाव। किसी प्राणी का घात न करना, अपशब्द न बोलना तथा मानसिक रूप से किसी का अहित न सोचना, एक शब्द में यदि कहा जाए तो दुर्भाव का अभाव तथा समभाव का निर्वाह। मुख्य रूप से अहिंसा के दो प्रकार होते हैं—1. निषेधात्मक तथा 2. विधेयात्मक।

निषेध का अर्थ होता है किसी चीज को रोकना, न होने देना। अत: निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ होता है किसी भी प्राणी के प्राणघात का न होना या किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न देना। अहिंसा का निषेधात्मक रूप ही अधिक लोगों के ध्यान में आता है किन्तु अहिंसा केवल कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं को न करने में ही नहीं होती है, अपितु कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं के करने में भी होती है, जैसे—दया, करुणा, मैत्री, सहायता, सेवा, क्षमा करना आदि। यही सब क्रिया विधेयात्मक अहिंसा कहलाती है।

1.4.1 अहिंसा की परिभाषा

भारतीय संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। अध्यात्म की आत्मा अहिंसा है। प्राचीन ऋषि-महर्षियों से लेकर वर्तमान के महापुरुषों तक ने न केवल अहिंसात्मक भावना पर बल दिया अपितु अहिंसा को आदर्श बनाने का हर सम्भव प्रयास किया है। भारत के प्राय: सभी दर्शनों में अहिंसा की अवधारणा मिलती है। विविध विद्वानों एवं दार्शनिकों ने अहिंसा को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित करने का प्रयास किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योगदर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि ने अहिंसा के प्रतिफल पर प्रकाश डालते हुए यह कहा है कि 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् अहिंसाप्रतिष्ठ व्यक्ति की सन्निधि में सब प्राणी वैरविहीन होते हैं। बौद्ध धर्म, दर्शन में भी अहिंसा को प्राण माना गया है।

गौतम बुद्ध के अनुसार मैत्री और करुणा अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति प्रेम और सभी जीवों के प्रति दया का भाव ही अहिंसा है। उन्होंने अहिंसात्मक कर्म को सम्यक् कर्म बतलाया है तथा अहिंसा के मार्ग में बाधक शस्त्र, प्राणी, मांस, मदिरा और विष के व्यापार को त्याज्य कहा है। सम्यक् आजीविका के अन्तर्गत इन्हें वर्णित किया गया है।

तेरापंथ के आद्य प्रणेता आचार्य भिक्षु अहिंसा के गूढ़ विचारक, अनुपम उपदेशक और अनन्य उपासक थे। उनके अनुसार हिंसा रहित शुद्ध अहिंसात्मक भाव ही अहिंसा है। वे अहिंसा के अखण्ड और विशुद्ध रूप में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि अन्य वस्तुएँ परस्पर मिल सकती हैं किन्तु अहिंसा में हिंसा कभी नहीं मिल सकती।

अहिंसा के आधुनिक व्याख्याकार महात्मा गाँधी के शिष्य पाश्चात्य विद्वान् के लांजा डेलवास्टो के अनुसार ''समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।'' 'बन्दूक सिर तोड़ सकती है किन्तु सिर जोड़ नहीं सकती।' अहिंसा कायरों की चादर नहीं अपितु वीरों का भूषण है। 'अहिंसा धर्म केवल ऋषियों एवं सन्तों के लिए ही नहीं है। यह सर्व-साधारण जनता के लिए है।' ये कथन गाँधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचार को ही परिपुष्ट करते हैं।

'विश्वस्याहं मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'।

—मैं समूचे संसार को मित्र दृष्टि से देखूं।

'तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः'।

—पातंजल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सर्वप्रकार से, सर्वकाल में, सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना अहिंसा है।

'गीता' में अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है—

समं पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं, ततो याति परां गतिम्।।

—ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर, हिंसा की प्रवृत्ति नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है और इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्णरूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त होता है, यानी उसे इस विश्व के बृहत्तम तत्त्व ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभिः।।

—मन, वचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट नहीं पहुंचाना—इसी को महर्षियों ने अहिंसा कहा है।

महात्माजी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अहिंसा के माने सूक्ष्म जंतुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव।'

पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।

आचारांग में उल्लिखित है कि—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे पत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जायेव्वा, न परिद्येतव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे शुद्धे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्वों को न मारना चाहिये, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न उनके साथ प्राणापहार-उपद्रव करना चाहिए, न बलात्कार करना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, यह अहिंसा रूप ही शुद्ध है। यद्यपि इस कथन के मूल में 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु वस्तु एवं विषय की स्पष्टता के लिए इसमें 'अहिंसा' शब्द बढ़ा दिया है क्योंकि इस कथन में जो भी बातें कही गई हैं, वे अहिंसा पर ही लागू होती हैं तथा इसमें जिस शुद्ध धर्म का प्रतिपादन हुआ है, उसे अहिंसा ही माना गया है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में भी यह उल्लेख मिलता है कि—बुद्धिमान सब युक्तियों के द्वारा इन जीवों का जीवत्व सिद्ध करके कि ये सभी दु:ख के द्वेषी हैं (यानि दु:ख अप्रिय है), यह जाने तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा न करे। यानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है कि ये किसी जीव की हिंसा नहीं करते हैं। इस परिभाषा में तीन बातों बताई गई हैं—

1. बुद्धिमान को सभी युक्तियों के द्वारा जीवों के जीवत्व को जानना चाहिए।
2. फिर यह भी जानना चाहिए कि सभी जीवों को कष्ट अप्रिय होता है।
3. इन दोनों बातों को जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अर्थात् हिंसा करने से बचने का प्रयास आदमी तभी कर सकता है, जबकि वह प्रथम दो बातों को जानता हो। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में कहा गया है कि मन, वचन और काय—इन तीनों से (पाण मा हणे) प्राणियों को न मारना चाहिए। इस परिभाषा में मन, वचन और कर्म अर्थात् तीन योग की प्रधानता दिखाई गई है। आवश्यक सूत्र में अहिंसा की पूर्ण परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—अहो भगवन्! मैं समभाव में आत्मस्थापन करने के लिए सामायिक व्रत करता हूँ, इसमें सर्व प्रकार से सावद्य योग प्रवृत्ति का यावत् जीवन तक प्रत्याख्यान करता हूँ। तीन करण और तीन योग से। इसमें तीन योग हैं—'मन, वचन और काय।' तीन करण—'स्वयं करूं नहीं, अन्य से करवाऊं नहीं, अन्य के करने को अच्छा मानूं नहीं।' इसके अनुसार किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना ही अहिंसा है।

नियमसार ग्रंथ में प्रथम वृत्त अहिंसा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—जीव के कुल, योनि, मार्ग, स्थान आदि की जानकारी करके उसके आरम्भ से बचना ही प्रथम वृत्त है या अहिंसा है। इस परिभाषा का ही एक बृहद्रूप मूलाचार में मिलता है कि ''काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणास्थान, कुल, आयु, योनि इनमें सब जीवों को जानकर कायोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग अहिंसा महाव्रत कहलाता है।'' योगशास्त्र में कहा है कि ''प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के) प्राणियों का हनन न करना अहिंसा व्रत है।

ध्यानपूर्वक देखने पर इन सभी परिभाषाओं में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य मिलता है। किसी में अहिंसा के कारण पर तो किसी में जीव के विभिन्न प्रकारों पर तो किसी में हिंसा के विभिन्न प्रकारों को दिखाते हुए उनके अपेक्षित भाव पर प्रकाश डाला गया है।

1.4.2 अहिंसा के रूप

अहिंसा के दो रूप मुख्यत: स्वीकार किये गये हैं—भाव अहिंसा यानि मन में हिंसा न करने की भावना का जाग्रत होना। द्रव्य अहिंसा यानि मन में आये हुए अहिंसा के भाव को क्रियारूप देना अर्थात् उसका वचन और काय से पालन करना, जैसे—हिंसा न करने का संकल्प करने वाला वास्तव में जिस दिन से संकल्प करता है, उस दिन से किसी भी प्राणी की हिंसा न करता है, न कराता है और न करने वाले का अनुमोदन ही करता है। भाव और द्रव्य हिंसा के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं—

1. भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह स्थूल प्राणी की हिंसा नहीं करेगा और सचमुच वह ऐसा ही करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप तथा द्रव्यरूप दोनों ही हुई।

2. भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं—कोई व्यक्ति किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प करके यत्नपूर्वक अपनी राह पर चार हाथ भूमि देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने में घात हो जाता है। अत: यहाँ पर भाव अहिंसा तो हुई किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. भाव अहिंसा नहीं परन्तु द्रव्य अहिंसा—मछुआ मछली मारने के उद्देश्य से नदी किनारे जाल फैलाये हुए बैठा रहता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। अत: यहाँ पर भाव अहिंसा तो नहीं किन्तु द्रव्य अहिंसा है।

4. न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा—मांसादि के लोभ में पड़ा हुआ आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही।

1.4.3 अहिंसा क्यों?

हिंसा को त्यागने और अहिंसा को अपनाने का यह सर्वविदित कारण है और सामान्य तौर से लोग यही समझते भी हैं कि हिंसा करने से अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचता है, अत: किसी को कष्ट पहुँचाना उचित नहीं। सभी प्राणियों को सुख प्रिय तथा दु:ख अप्रिय लगता है, सबको अपनी आत्मा प्यारी होती है, ऐसा जानते हुए भय और वैर से मुक्त होकर किसी भी जीव की हिंसा न करनी चाहिए क्योंकि जिस व्यवहार से एक व्यक्ति दूसरे को कष्ट पहुँचाता है, यदि वही व्यवहार उसके साथ भी किया जाये तो उसे भी आनन्द नहीं बल्कि कष्ट ही मालूम होगा। परन्तु अहिंसा पालन करने का यह प्रधान कारण नहीं है, यद्यपि सामान्य जानकारी में इसी को प्रधानता मिलती है। अहिंसा के मार्ग पर चलने का मुख्य उद्देश्य है—आत्म-कल्याण। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट करने के पहले अपना अनिष्ट करता है, हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, दूसरों से वैर बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इस प्रकार वह पहले अपनी भाव तथा द्रव्य हिंसाएँ करता है। इसके विपरीत यदि कोई अहिंसा को अपनाता है, सबको समान दृष्टि से या आत्मवत देखता है तो उसका कोई भी शत्रु नहीं होता। अत: उसकी द्रव्य हिंसा नहीं होती और चूँकि वह सबको समान समझता है, उसके मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं पैदा होता, इसलिए उसका मन दूषित नहीं होता, उसकी आत्मा शुद्ध होती है, पवित्र होती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है और आगे चलकर जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मुक्त हो जाता है। अर्थात् अहिंसा पालन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी वजह से प्रश्न व्याकरणसूत्र में अहिंसा का प्रथम नाम 'निर्वाण' दिया गया है। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण या दो फल हुए—1. आत्म-कल्याण या मोक्षप्राप्ति और 2. अन्य प्राणियों के प्रति उपकार।

1.4.4 अहिंसा के पोषक तत्त्व

हिंसा का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह इसके पोषक तत्त्व हैं। ठीक इसके विपरीत सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अहिंसा के पोषक तत्त्व हैं। यानी इनमें से किसी एक को छोड़ देने से अहिंसा व्रत का पूर्णरूपेण पालन नहीं हो सकता। झूठ बोलने वाले को एक झूठ को छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं, जिससे स्वयं तो उसकी आत्मा कष्ट पाती है और अपवित्र होती है, दूसरे प्राणियों को भी वह दु:खद स्थिति में डालता है। चोरी न करने वाला अन्य को उस प्रकार का कष्ट नहीं देता, जो प्रियवस्तु के हरण से होता है। ब्रह्मचर्य पालन से आदमी उन सभी प्रकार की हिंसाओं से बच पाता है, जो मैथुन आदि से होती हैं।

इसी प्रकार अपरिग्रही आदमी को किसी के प्रति राग या द्वेष का शिकार नहीं बनना पड़ता। वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता। अतएव सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, अहिंसा के पोषक या सहायक तत्त्व हैं।

1.4.5 अहिंसा का तात्त्विक विवेचन

व्यक्ति की मुक्ति के लिए या चित्तशुद्धि और वीतरागता प्राप्त करने के लिए अहिंसा की ऐकान्तिक चरित्रगत साधना उपयुक्त हो सकती है किन्तु संघ रचना और समाज में उस अहिंसा की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए उसके तत्त्वज्ञान की खोज न केवल उपयोगी ही है, किन्तु आवश्यक भी है। महावीर के समय में आत्मनित्यवाद (आत्मा को नित्य मानने वाला), उच्छेदवाद तथा उपनिषदों आदि की विभिन्न दार्शनिक (तात्त्विक) धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। महावीर के समय वस्तु के वास्तविक स्वरूप के संदर्भ में सभी वादों में एकता या मैत्री भावना लाने की समस्या थी। उन्होंने यह साबित किया कि वस्तु यदि मौलिक रूप में नित्य है तो परिवर्तमान पर्यायों की दृष्टि से अनित्य भी है। द्रव्य के दृष्टिकोण से यदि सत् से ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सत् उत्पन्न होता है तो पर्याय की दृष्टि से असत् से भी सत् उत्पन्न होता है। इस प्रकार उन्होंने सत्य को या जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणामी और अनन्त धर्मात्मक बताया। इस प्रकार वस्तु के वास्तविक रूप को दिखाकर उन्होंने दर्शन के क्षेत्र के बहुत बड़े झमेले को मिटाने की कोशिश की किन्तु अनेकान्त की दृष्टि वस्तु के सभी रूपों को सही मानती है। अत: कोई विवाद नहीं उठता। अहिंसा ही तत्त्व के क्षेत्र में अनेकांत रूप धारण करती है।

1.4.6 हिंसा और अहिंसा के कार्य में भेद

हिंसा और अहिंसा के रास्ते बिल्कुल अलग-अलग हैं। सूत्र रूप से उनका भेद गाँधीवादी चिन्तक श्री किशोरलाल मश्रूवाला के शब्दों में इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

हिंसा	अहिंसा
1. हिंसा के मूल में प्रतिपक्षी के बल का डर रहता है और यह अपना हिंसा-बल प्रतिपक्षी की अपेक्षा बढ़ाकर ही, जय की आशा करती है।	अहिंसा का दूसरा नाम निर्भयता कहा जा सकता है। इसका बल प्रतिपक्षी की न्यूनता पर नहीं अपनी निर्भयता पर है।
2. हिंसा प्रतिपक्षी में डर पैदा करके उसे अपने वश करने की आशा करती है।	अहिंसा प्रतिपक्षी को अभयदान देकर जीतने की आशा रखती है।
3. भयमूलक होने के कारण हिंसा में कुटिल नीति, असत्य, गुप्तता, छल-प्रपंच आदि का कुछ-न-कुछ आधार लिये बिना काम नहीं चलता। केवल अपना हिंसा-बल अधिक होने से ही जय नहीं मिलती, उसके साथ कुटिल नीति में प्राप्त कुशलता पर बहुत आधार रहता है।	अहिंसा में आदमी जितना सरल, सरल-प्रिय, कुटिल नीति रखने के अयोग्य हो, उतना ही वह युद्ध की योजना अधिक स्पष्ट रूप से कर सकता है। इसके विरोधी की कुटिलता उसी पर भारी पड़ती है और जैसे जाल में हवा नहीं पकड़ी जा सकती, वैसे ही अहिंसा की सरलता हिंसा की कुटिलता में नहीं फंस सकती।
4. हिंसा की वीरता साहसयुक्त है, पर भय-मुक्त नहीं। इसमें मरने का डर रहता है, जोखिम उठाने की तैयारी रहती है। इस प्रकार हिंसा की वीरता आवेश वाली और उत्तेजना पर आधारित है।	अहिंसा की वीरता में आवेश और उत्तेजना से पैदा होने वाला साहस नहीं होता। इसकी वीरता निर्भयता में है। यह दृढ़ता-पूर्वक ठंडे मस्तिष्क से विचार करती है और आगे बढ़ती है।
5. हिंसा में जय के लिए कुशल सेनापति की होशियारी अनिवार्य है, इसलिए उसको बचाये रखना आवश्यक माना जाता है। इसमें एक प्राणी के लिए लाखों सैनिकों के प्राण गंवाने पड़ें तो बुरा नहीं माना जाता।	अहिंसा में बहुधा सबके सब मनुष्यों का बलिदान जय दिलाता है। इसका सेनापति अपने प्राणों की इतनी कीमत नहीं आंकता कि उसको बचाने के लिए खटपट की जाए। अहिंसा मानती है कि उसका बलिदान लाखों की रक्षा करने के साथ ही जय को नजदीक लाता है।
6. हिंसा में कुशल सेनापति का मरना बड़ी सेना की हार है।	अहिंसा में सेनापति के बलिदान से मानो वह पूरी सेना में व्याप्त हो जाता है।
7. प्राणों के समान ही धन-सम्पत्ति को दुश्मन के हाथ में न पड़ने देने के लिए अनेक युक्तियाँ रचनी पड़ती हैं।	अहिंसा में सर्वस्व-त्याग को सद्गुण मानने के कारण इसकी रक्षा के लिए युक्ति-रचना को त्याज्य माना जाता है।

1.4.7 अहिंसा की विशेषता

अहिंसा क्षत्रिय गुण है। कायर व्यक्ति के द्वारा अहिंसा का पालन असंभव है। जिसमें शक्ति है, जो शूर है वही किसी पर दया कर सकता है, जो निरीह प्राणी है, कायर है वह अपनी रक्षा के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाता है, वह दूसरों की रक्षा या दूसरों पर दया नहीं कर सकता है। ''अहिंसा है जाग्रत आत्मा का गुण विशेष''। यह अन्य गुणों का स्रोत है, मूल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। अतएव इसकी सफल साधना बिना विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता एवं ज्ञान के नहीं हो सकती। अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्तन होता है। यह मारने का सिद्धान्त नहीं, सुधारने का सिद्धान्त है। यह संहार का नहीं, उद्धार एवं निर्माण का सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नों का पक्षधर है, जिसके द्वारा मानव के अन्तर में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सकता है और अपराध की भावनाओं को मिटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त—

1. अहिंसा सर्वश्रेष्ठ मानव धर्म है, इसमें पशुबल से अनन्त गुणी अधिक शक्ति एवं महानता है।
2. इससे व्यक्ति के स्वाभिमान और सम्मान भावना की रक्षा होती है।
3. यदि कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अहिंसा का पालन करना चाहे तो सर्वप्रथम उसे अपना सर्वस्व त्यागने को तैयार रहना चाहिए।
4. अहिंसा की एक यह भी विशेषता है कि इसकी सहायता बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं।
5. अहिंसा जितना लाभ एक व्यक्ति को प्रदान कर सकती है, उतना ही एक जन-समूह को अथवा एक राष्ट्र को।

मानवता के अन्तर्गत जिन-जिन गुणों का समावेश होता है, उनकी कोई खास सर्वमान्य सूची नहीं बनायी जा सकती। किसी विचारक या धर्म-प्रवर्तक ने किन्हीं खास बातों को मानव-धर्म का लक्षण माना, दूसरे ने दूसरी बातों को। इस प्रकार विविध महानुभाव मनुष्य को तरह-तरह के गुणों का आचरण करने का परामर्श प्रदान करते रहे हैं। आधुनिक युग में गाँधीजी ने ग्यारह व्रतों का पालन आवश्यक ठहराया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी, स्पर्श भावना (सामाजिक समानता)। विनोबा ने इनमें नम्रता और दृढ़ता को और जोड़ दिया है। प्राय: सभी आचार्यों या धर्माधिकारियों और नीतिकारों ने मनुष्य के लिए अहिंसा और सत्य को मुख्य माना है और इन गुणों का अपनी-अपनी सूची के आरम्भ में ही स्थान दिया है और इन दोनों गुणों का भी परस्पर में बहुत सम्बन्ध है। गाँधीजी ने सत्य को साध्य और अहिंसा को उसका साधन माना है। अस्तु, उन्होंने अहिंसा को जीवन-धर्म कहा है। हम भी मानवता का मूल अथवा प्रधान गुण अहिंसा को ही समझ कर उसका चिन्तन करते हैं।

अहिंसा द्वारा हृदय परिवर्तन होता है। यह मारने का सिद्धान्त नहीं, सुधारने का सिद्धान्त है। यह संहार का नहीं, उद्धार एवं निर्माण का सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नों का पक्षधर है, जिसके द्वारा मानव के अन्तस् में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सकता है और अपराध की भावनाओं को मिटाया जा सकता है। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरण से निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतंत्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिंसा से ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम, निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहंकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदि का अन्त भी अहिंसा द्वारा सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े से बड़े साध्य को सिद्ध कर सकता है। एकता की भावना अहिंसा का ही रूप है। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा बिना एक बूंद रक्त बहाये वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसा द्वारा निर्मित समाज को आदर्श या कल्पना की वस्तु मानते हैं पर यथार्थत: यह समाज काल्पनिक नहीं, प्रत्युत् व्यावहारिक होगा क्योंकि अहिंसा का लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेद से ऊपर उठकर समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य के साथ शिष्टता और मानवता का व्यवहार करे। छल, कपट या इनसे होने वाली छीना-झपटी को अहिंसा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। वस्तुत: अहिंसा में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है, जिसके द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सरलतापूर्वक समाहित किया जा सकता है। अहिंसा मानव को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसा के रूप हैं। मानव मन हिंसा के विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारों का शमन करने के लिए अहिंसा की दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। अत: क्रोध को क्रोध से नहीं सरलता व निश्चलता से, लोभ को लोभ से नहीं सन्तोष उदारता से जीतना चाहिए। जिस प्रकार कुएँ में गयी ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापिस लौटती है, उसी प्रकार अहिंसात्मक क्रियाओं का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्त्ता पर ही पड़ता है। कर्त्तव्य-स्वभाव का निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा ही सम्भव है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि के पारस्परिक कर्त्तव्य का अवधारण भावात्मक विकास की प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसा का ही सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्‌भव एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विकास का मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है पर यह अंश सामाजिक गतिविधि में बाधक नहीं है।

1.4.8 अहिंसा की आवश्यकता

अहिंसा तो सदैव आवश्यक है, पर जब हिंसा का वातावरण हो तो वह और अधिक आवश्यक हो जाती है। हिंसा जितनी अधिक होगी, अहिंसा की आवश्यकता भी उतनी अधिक होगी। जब मानव जाति हिंसा की चरम सीमा तक पहुँच चुकी है, ऐसे समय में अहिंसा ही उसकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय है। यदि मानव को महाविनाश में विलीन नहीं होना है तो अहिंसा के चिन्तन और व्यवहार का उसे पुनः व्यवहार करना होगा। आज अत्यन्त आवश्यक है मानव के कल्याण में आस्था और अहिंसा के प्रयत्नों के विकास की। गाँधीजी ने कहा है, 'सारा समाज अहिंसा पर उसी प्रकार कायम है, जिस प्रकार कि गुरुत्वाकर्षण से पृथ्वी अपनी स्थिति में बनी हुई है।' समाज में पग-पग पर अहिंसा की आवश्यकता है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े से बड़े साध्य को सिद्ध कर सकता है। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है, जिसके द्वारा बिना बूंद रक्त बहाये वर्गहीन समाज का आदर्श प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि अहिंसा का लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जाति भेद के ऊपर उठकर समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य के साथ शिष्टता और मानवता का व्यवहार करे। वस्तुतः अहिंसा में ऐसी अद्‌भुत शक्ति है, जिसके द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सरलता पूर्वक समाहित किया जा सकता है। अहिंसा के आधार पर सहयोग और सहभागिता की भावना स्थापित करने से समाज को बल मिलता है। मानव हृदय की आंतरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्‌भव एवं विकास का मूल है।

जिस बुद्धि ने अणु की सूक्ष्म शक्ति का विघटन किया है, वही बुद्धि अहिंसा की जीवन शक्ति का मार्ग समझने की शक्ति रखती है। मानव के कल्याण में आस्था रखनी चाहिए और उन्मुक्त हृदय से अहिंसा के प्रयत्नों का हृदय से स्वागत करना चाहिए। हिंसा में सर्वत्र मृत्यु है। अहिंसा में जीवन का वेग जन्म लेता है। हिंसा भय का मूल है। अहिंसा अभय का मुख्य द्वार उद्‌घाटित करती है। हिंसा निर्बल का क्षोभ है और अहिंसा बली की धीर वृत्ति है, जिसके आदि, अन्त और मध्य में शान्ति, प्रेम और कैवल्य का अमृत भरा है। बिना अहिंसा के समाज (तथा प्राणी मात्र) रह ही नहीं सकता। यहाँ तक कि सेना आदि हिंसक संगठनों को भी अहिंसा का आसरा लेना पड़ता है। अस्तु, समाज को जीवित रहने, विकास करने और विनाश से बचने के लिए अहिंसा की आवश्यकता है।

यह संसार अहिंसा के बल पर ही टिका है, हिंसा से तो इसका विनाश हो सकता है। संसार में अहिंसा आवश्यक है, इसीलिए तो समय-समय पर युद्ध आदि होते रहते हैं और जिस अनुपात में होते हैं, उस अनुपात में विनाश होता रहता है। परन्तु यह होते हुए भी संसार सर्वथा नष्ट न होकर बना हुआ है और आगे प्रगति होती जा रही है। इससे स्पष्ट है कि संसार में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की अधिकता है और वह संसार को टिकाये हुए है। यह समझना गलत है कि युद्ध आदि हिंसा-कार्य से संसार की प्रगति हो रही है। यह प्रगति हिंसा के होते हुए भी हो रही है तो इसका कारण यही है कि संसार में हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का व्यवहार कहीं अधिक है। गाँधीजी ने कहा है कि संसार आज इसलिए खड़ा है कि यहाँ पर घृणा से प्रेम की मात्रा अधिक है, धोखेबाजी और जोर-जबरदस्ती तो बीमारियाँ हैं, सत्य और अहिंसा स्वास्थ्य हैं। यह बात कि संसार अभी तक नष्ट नहीं हुआ है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि संसार में रोग से अधिक स्वास्थ्य है। यह जगत् प्रतिक्षण बदलता है, इसमें संहार की इतनी शक्तियाँ हैं कि कोई स्थिर नहीं रह सकता, लेकिन फिर भी मनुष्य-जाति का संहार नहीं हुआ, इसका अर्थ यही है कि सब जगह अहिंसा ओत-प्रोत है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के समान अहिंसा संसार की सारी चीजों को अपनी तरफ खींचती है। प्रेम में यह शक्ति भरी हुई है। अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन-धर्म न होता तो इस मर्त्य लोक में हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्यु पर प्रत्यक्ष और सनातन विजय-रूप है। अगर मनुष्य और पशु के बीच कोई मौलिक और सबसे महान् अन्तर है तो वह यही है कि मनुष्य दिनों-दिन इस धर्म का अधिकाधिक साक्षात्कार कर सकता है। संसार के प्राचीन और अर्वाचीन सब सन्त-पुरुष अपनी-अपनी शक्ति और मान्यता के अनुसार इस परम जीवन-धर्म के ज्वलंत उदाहरण थे। निःसंदेह यह सच है कि हमारे अन्दर छुपा हुआ पशु कई बार सहज विजय प्राप्त कर लेता है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह धर्म मिथ्या है। इससे तो केवल यह सिद्ध होता है कि यह आचरण में कठिन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदमी को जीवन के लिए ही अहिंसा की आवश्यकता है। वह सुख-शांति चाहता है और इसके वास्ते उत्पादन और निर्माण-कार्य करना होता है, यह कार्य भी अहिंसा बिना नहीं हो सकता, इसलिए भी अहिंसा आवश्यक है। 'मानवता का मूलभूत आधार अहिंसा है—प्राणी मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति अहिंसामय है। अतएव दैनिक जीवन में अहिंसा की व्यावहारिक आवश्यकता स्वत: सिद्ध है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में शक्ति का भी अपना स्थान है। शक्ति के बिना जीवन पंगु है। परन्तु वह शक्ति पशुबल की नहीं होनी चाहिए क्योंकि पशु-बल संहारक और घातक है। इसके विपरीत अहिंसा की शक्ति महान है। अहिंसा-शक्ति से संहार और विनाश नहीं होता, बल्कि उससे निर्माण होता है और उत्पादन बढ़ता है, जिसके परिणाम-स्वरूप लोक में सुख-शांति बढ़ती है। मानव की जो शक्ति विनाश के उपायों में खर्च होती है, वही मानवता के जागृत होने पर निर्माण के कार्यों में व्यय होती है। अहिंसा-संस्कृति की यही सबसे बड़ी सफलता है।

1.4.9 अहिंसा का आदिस्रोत

अहिंसा की स्थापना का पहला दिन सुन्दर अतीत के गर्भ में है, इसलिए वह हमें ज्ञात नहीं है। अज्ञात के विषय में हम या तो कल्पना कर सकते हैं या अनुमान। कल्पना और अनुमान अपने-अपने संस्कारों के अनुसार चलते हैं, इसीलिए सारे कल्पनाकार और अनुमाता किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते।

सामाजिक अस्तित्व से पहले की जीवन पद्धति में लोग प्राकृतिक सम्पदा के सहारे जीते थे। खाने, रहने और पहनने-ओढ़ने के लिए वृक्षों पर निर्भर थे। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि वे वृक्षोपजीवी थे। आवश्यकताएँ कम थीं, इसलिए प्रवृत्तियाँ भी कम थीं। जनसंख्या कम थी। इसलिए उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरलता से हो जाती थी। इसलिए तात्कालीन मनुष्यों में संघर्ष की स्थितियाँ नहीं थी। वे शांत जीवन जीते थे। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ उपशांत थ। संग्रह नहीं था, इसलिए न चोरी थी, न हिंसा और न लड़ाइयाँ। न कोई विधि-विधान था, न शासन और न कोई व्यवस्था। वे मुक्त और स्वावलम्बी जीवन जीते थे।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ नया मोड़ आ गया। तब प्राकृतिक वन-सम्पदा उनकी आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं रही। संघर्ष और छीना-झपटी के अंकुर पनपने लगे इस परिस्थिति में सामाजिक जीवन और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। प्रारम्भ में कुलों और कुलकरों की व्यवस्था हुई। कृषि, व्यापार और सुरक्षा के प्रवर्तन के साथ-साथ आवश्यकताएँ और प्रवृत्तियाँ दोनों बढ़ गई। संग्रह के परिपार्श्व में हिंसा, असत्य और चोरी को भी विकसित होने का अवसर मिलता है। सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ हिंसा आदि भी विकसित हुईं। हिंसा आदि के विकास से नवनिर्मित समाज में अव्यवस्था फैली, उसे कुलकर नहीं संभाल सके। उस परिस्थिति में राजतंत्र का उदय हुआ। दण्ड के द्वारा हिंसा आदि की रोकथाम और व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप में संगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकता हुई। दूसरे मनुष्य को मारने, सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ में अपने परिवार के मनुष्यों को न मारने की वृत्ति रही होगी, फिर क्रमश: अपने पड़ोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्य को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरों और पक्षियों को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिंसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई। इसलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही, किन्तु अहिंसा निरन्तर परिष्कृत व विकसित होती गई।

1.4.10 विकास क्रम

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि मनुष्य जाति का इतिहास उन्नति का रहा है, अवनति का नहीं। वास्तव में अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव जाति का। अत: निश्चित रूप से मानव जाति के उद्भव व विकास के अध्ययन द्वारा अहिंसा के विकास को स्पष्ट किया जा सकता है। इस हेतु आवश्यक है कि मानव जाति के उद्भव व विकास की उस श्रृंखला पर दृष्टिपात करें, जो निरन्तर विकसित होकर वर्तमान काल के सभ्य मानव तक पहुँची है तथा सभ्यता व संस्कृति के समीपवर्ती मूल्यों को विकसित किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा की संस्कृति ने विकास के विभिन्न काल में अहिंसा के विभिन्न शिखर छूए हैं। किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि अहिंसा के आदि बिन्दु का निर्धारण कहाँ से किया जाये। वैज्ञानिक अनुसंधान व विश्लेषण द्वारा विशेषत: डार्विन के जीव उत्पत्ति का सिद्धान्त विशेष रूप से यहाँ हमारी सहायता करता है। मनुष्य जब मनुष्य नहीं था, जब उसने वर्तमान मनुष्य के स्वरूप के आकार को नहीं पाया था, तब वह पशु कहलाता था। किन्तु भौगोलिक परिवर्तन, रहन-सहन में परिवर्तन, अस्तित्व की सुरक्षा आदि के कारण मनुष्य ने पशुओं से भिन्न श्रेणी का रूप धारण कर लिया। पशु रूप से मुक्ति पाने के उपरान्त मनुष्य के दोनों हाथ निर्माण व सृजन के लिए स्वतंत्र हो गये। मनुष्य की शारीरिक संरचना में रीढ़ की हड्डी का सीधा होना तथा मस्तिष्कि संरचना का विकास होने के कारण उसे निरन्तर चेतना के विकास का अवसर प्राप्त होता गया। अनुसंधान तथा पुरातन जीवाश्मों की गणना के उपरान्त इस मनुष्य की आयु 14 लाख से 20 लाख वर्ष पूर्व मानी जाती है। ये प्राप्त जीवाश्म मनुष्य के प्रथम अवस्था की स्थिति की ओर संकेत करते हैं। अत: अहिंसा के विकास एवं आदि बिन्दु के स्रोतों पर दृष्टिपात करने हेतु इसी 14-20 लाख वर्ष पूर्व के मनुष्य से प्रारम्भ करना होगा। उस काल के मनुष्य की कोई भाषा, संस्कृति, दर्शन, परिवार, समाज व्यवस्था आदि नहीं थे। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राय: पशुवत व्यवहार ही करता था। कालान्तर में आदि मनुष्य ने किसी युगल रूप में साथ इकट्ठे परिवार बनाकर रहना उचित समझा एवं इस प्रकार पुरातन आदम व्यवस्था में परिवार के संस्थान का प्रारम्भ हुआ।

जब दो मनुष्यों ने विश्वास, समन्वय, सहयोग के आधार पर एक साथ रहना स्वीकार किया तथा एक-दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति में अपनी उपयोगिता सिद्ध की तो इस अवस्था को हम अहिंसा के आदि बिन्दु की संज्ञा दे सकते हैं। कालान्तर में मनुष्य की चेतना विकसित होती गई। परिवार की सुरक्षा व समृद्धि के लिए प्रयास किये जाने लगे। इसी काल में मनुष्य का परिचय प्रकृति के कारण अग्नि से हुआ। वह समझ गया कि अग्नि उसके भोजन में तथा ठण्ड से मुक्ति दिलाने में सहयोगी हो सकती है। इस हेतु उसने अग्नि का संचय किया तथा इसके उपयोग करने के अन्तराल में साम्प्रदायिक भावना का विकास हुआ। अग्नि के चारों तरफ बैठकर उपयोग करने से तात्कालीन आदि मनुष्य की सामाजिक संस्कृति विकसित हुई। इसके उपरान्त मनुष्य के जीवन में पशु पालन, कृषि आदि आने से मांसाहार पर उसकी निर्भरता कम होती गई तथा वह व्यवस्थित रूप से कृषि व अन्य साधनों द्वारा जीवन यापन करने लगा। यात्रा के इस अन्तराल में भी कई लाख वर्ष लगे, जिसका सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है। इस अन्तराल में अहिंसा एवं इसके समीपवर्ती मूल्यों ने परिवार, समाज, पशुपालन, कृषि के संदर्भ में विभिन्न उत्कर्षों को छुआ है।

अहिंसा का विस्तार

अहिंसा का समुचित विस्तार होने के लिए अभी बहुत प्रयत्नों की आवश्यकता है, तथापि यह कहा जा सकता है कि यह विस्तार क्रमश: होता रहा है और आगे भी होते रहने की सम्भावना है। गाँधीजी ने कहा—'मेरी दृष्टि में तो मुझे निश्चय है कि न तो कुरान में, न महाभारत में कहीं भी हिंसा को प्रधान पद दिया गया है। पारस्परिक प्रेम की बदौलत ही कुदरत का काम चलता है। मनुष्य संहार पर अपना निर्वाह नहीं करते हैं। आत्म-प्रेम की बदौलत औरों के प्रति आदर भाव अवश्य ही उत्पन्न होता है। राष्ट्रों में एकता इसलिए होती है कि राष्ट्रों के अंगभूत लोग परस्पर आदर-भाव रखते हैं। किसी दिन हमारा राष्ट्रीय न्याय हमें विश्व तक व्याप्त करना पड़ेगा, जैसा कि हमने अपने कौटुम्बिक न्याय को राष्ट्रों के एक विस्तृत कुटुम्ब के निर्माण में व्याप्त किया है। मानव प्रगति के इतिहास पर विविध बाधाएँ आयी हैं। मनुष्य अपनी प्रस्तुत समस्याओं को कभी तेजी से और कभी मंद गति से हल करता रहा है। जब कभी बड़ी समस्या उपस्थित होती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अहिंसा के मार्ग में आगे बढ़ने के बजाय पीछे हट रहा है। परन्तु यह पीछे हटना स्थायी नहीं है। कभी-कभी तो पीछे हटना भविष्य में गति तेज होने का सूचक होता है, जैसे आदमी बड़ी छलांग मारने के लिए कुछ पीछे हटा करता है।

मानव-विकास के क्रमों पर आज की वैज्ञानिक दृष्टि सर्वप्रथम आदिमयुग पर जा टिकती है। आदिमयुग का मानव जंगलों में भटका करता था। जंगली जानवरों का शिकार करना, उनके कच्चे-अधपके मांस से क्षुधा-तृप्ति करना तथा उनकी खालों को वस्त्र की जगह पहनना, यही प्राय: उसका नित्य का जीवन था। आदिम मानव का यह जीवनक्रम बताता है कि अपने से इतर किसी भी प्राणी का मूल्य उसके लिए कुछ भी न था। बस, कुछ मूल्य था तो इतना ही कि उन्हें मारकर अपनी क्षुधापूर्ति करना एवं उनकी खाल को पहन लेना भर। तब से मानव को कहाँ यह पता था कि सभी प्राणी एक समान हैं, सभी हमारी तरह ही सुख-दु:खों का अनुभव करते हैं, हमारी तरह ही दु:खों से मुक्ति चाहते हैं और सुखों की कामना करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुख-दु:ख के क्षणों में एक-दूसरे के प्रति लगाव का, सहयोग का जो दायित्व है, वह उस युग में नहीं था। इसलिए नहीं था कि तब मानव-चेतना ने विराट रूप ग्रहण नहीं किया था। वह एक क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ की तारबन्दी में अवरुद्ध थी। एक दिन वह आया, जब मानव इस क्षुद्र सीमा से बाहर निकला, केवल अपने सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु दूसरों के सम्बन्ध में भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। उसके अन्तर्मन में सहृदयता, सद्भाव की ज्योति जगी और वह सहयोग के आधार पर परस्पर के दायित्वों को प्रसन्न-मन से वहन करने को तैयार हो गया और जब वह तैयार हो गया तो परिवार बन गया। जैसे-जैसे मानव मन भावनाशील होकर व्यापक होता गया, वैसे-वैसे पारिवारिक भावना के मूल मानव जाति में गहरे होते गए। फिर तो परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र आदि के विभिन्न क्षेत्र भी व्यापक एवं विसतृत होते चले गए। यह सब भावात्मक विकास की प्रक्रिया, एक प्रकार से अहिंसा का ही एक सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यह संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्भव और विकास का मूल है। यह ठीक है कि उक्त विकास प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर इससे क्या होता है? आखिर तो यह मानव-चेतना की ही एक विराट् प्रक्रिया है और यह अहिंसा है। पुरातात्त्विक व ऐतिहासिक प्रमाण भी इस धारणा को पुष्ट करते हैं।

1.4.11 अहिंसा : ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से मिलने वाले पुरातत्त्वावशेष अहिंसा की प्रतिष्ठा के आधार बनते हैं। इन अवशेषों में एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। उस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष और मृग आदि पशु स्थित हैं। विभिन्न विद्वानों का यह मत रहा कि यह पशुपति की मूर्ति है। इसके साथ-साथ एक मत यह भी रहा है कि योगसूत्र—'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:' के सूचक किसी पहुँचे हुए योगी की मूर्ति है।

त्रिमुखी मूर्ति के अवलोकन से अर्हत्-अतिशयों से अभिज्ञ व्यक्ति के मन में यह कल्पना भी सहज रूप से होती है कि समवसरण स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही वह कोई शिल्प चित्रण है क्योंकि चित्रांकन में पीछे का मुख चित्रित नहीं किया जा सकता। यह विशेषता तो तीर्थंकरों की स्वयं सिद्ध है ही कि उनके सान्निध्य में व्याघ्र, सिंह, मृग, सांप, नेवला आदि नित्य-विरोधी पशु भी मैत्रीभाव से या अहिंसक भाव से बैठते हैं। मृग की अवस्थिति ठीक वैसे ही है, जैसे वर्तमान युग में 16वें तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति में हुआ करती है। यह शांतिनाथ का चिह्न भी है। यह कल्पना इसलिए की जा सकती है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाइयों में कुछ अन्य मूर्तियाँ तथा मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनसे ऐसी संस्कृति का आभास मिलता है, जब अहिंसा, प्रेम, करुणा की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इस मूर्ति के सम्बन्ध में कुछ भी मत-मतान्तर रहे हों पर यह स्पष्ट है कि आर्यों के आगमन से पूर्व उस प्रदेश में समाधि और मुनित्व का अस्तित्व वर्तमान था।

1.4.12 ऐतिहासिक दृष्टि

आर्यों का आगमन—मैक्समूलर तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत रूप से प्रमाणित कर ही दिया है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आए। (यद्यपि कई इतिहासकार इस मत के विरुद्ध हैं।) उन लोगों की एक व्यवस्थित सभ्यता थी। यहाँ के आदिवासी लोगों को उन्होंने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में परास्त किया और उत्तर से दक्षिण तक समग्र देश में अपनी संस्कृति का प्रभाव बढ़ाया। यह वही सभ्यता है, जिसे लोग वैदिक सभ्यता के नाम से अभिहित करते हैं।

प्राग् आर्य सभ्यता—इस गवेषणा के साथ अब तक यह तथ्य जुड़ा हुआ था कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस भारतवर्ष में कोई समुन्नत सभ्यता या संस्कृति नहीं थी। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भी इसी संस्कृति की उत्क्रान्तियाँ मात्र हैं। किन्तु इन दिनों में जिस प्रकार इतिहास एक करवट ले रहा है, उससे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों को आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी। वह संस्कृति अहिंसा, सत्य और त्याग पर आधारित थी। यहाँ तक कि उस संस्कृति में पले-पुसे लोग अपने सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक हितों के संरक्षण के लिए भी युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे। अहिंसा उनके जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग थी। भौतिक विकास की दृष्टि से भी उनकी समुन्नत सभ्यता थी। इसके साथ-साथ भक्ति एवं पुनर्जन्म के विचारों का विकास भी था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.4.13 आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा

कोई भी विकास एकपक्षीय धारा में अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। हर विकास की प्रतिक्रिया होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी तत्त्व का विकास-क्रम प्रारम्भ होता है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान बनाया। उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतना का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है। यह जगत् चेतना और अचेतन—इन दो सत्ताओं का सांसर्गिक अस्तित्व है। सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतंत्र के सामने आत्म-तंत्र का प्रथम सूत्रपात हुआ। इस सूत्रपात ने अहिंसा आदि का मूल्य-परिवर्तन कर डाला। सामाजिक अस्तित्व के स्तर पर उनका मूल्य सापेक्ष और ससीम था, वह आत्मिक अस्तित्व के स्तर पर निरपेक्ष और नि:सीम हो गया। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था—प्राणातिपात का आंशिक निषेध-मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना, और न मारने का लक्ष्य था सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थायित्व।

आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ प्राणातिपात का सर्वथा निषेध—किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। प्राणातिपात से सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति, यानी परिपूर्ण आत्मोदय। मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिंसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गई।

व्यापक मर्यादा में इस भाषा को अव्याप्त माना गया कि प्राणातिपात ही हिंसा है और अप्राणातिपात ही अहिंसा है। वहां हिंसा और अहिंसा की परिभाषा की आधार-भित्ति अविरति और विरति बन गई। अविरति—यानी वह मानसिक ग्रन्थि जो मनुष्य को प्राणातिपात करने में सक्रिय करती है, जब तक उपशांत या क्षीण नहीं होती तब तक हिंसा का बीज उन्मूलित नहीं होता। इसीलिए हिंसा का मूल अविरति है, प्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त हिंसा उस मानसिक ग्रंथि या अव्यक्त हिंसा के अस्तित्व में ही संभव है। विरति-हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रंथि की मुक्ति जब हो जाती है तब हिंसा का बीज उन्मूलित हो जाता है। अहिंसा का मूल विरति है, अप्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त अहिंसा हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रंथि की मुक्ति होने पर ही विकासशील बनती है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व में अहिंसा के अर्थ, उद्‌गम और लक्ष्य में आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

1.4.14 अहिंसा : व्यापक और विधायक

प्राय: यह समझा जाता है कि अहिंसा का अर्थ इतना ही है कि किसी की हत्या न की जाए अथवा इससे अधिक यह हो सकता है कि किसी को कष्ट न दिया जाए, हानि न पहुंचाई जाए, अपशब्द न कहा जाए। इस प्रकार अहिंसा को निषेधात्मक या नकारात्मक माना जाता है और इसका क्षेत्र कुछ खास इने-गिने कार्यों को न करने तक सीमित समझा जाता है। किन्तु वास्तव में अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है, जो आज हमारी दृष्टि से सामने है। किसी को न मारना, इतना तो है ही, कुविचार मात्र हिंसा है, उतावली हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर कब्जा करना भी हिंसा है। अहिंसा का आचरण करने के लिए हिंसा से बचना चाहिए, यह तो केवल नकारात्मक या अभावात्मक भाषा है। अहिंसा में इसका समावेश आवश्यक है, पर इसके साथ उसका महत्त्वपूर्ण रूप भावात्मक या विधायक है। अहिंसा का अर्थ है—प्रेम, सद्‌भाव, सेवा और आत्मीयता का व्यवहार। अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्वेग पहुंचाने वाली वाणी न बोलकर और कर्म न करके अथवा मन में भी उनके प्रति द्वेष भाव न आने देकर संतोष नहीं मानता बल्कि वह जगत् में फैले हुए दु:खों को देखने, समझने और उनके उपाय ढूंढ़ने का प्रयत्न करता रहता है और दूसरों के सुख के लिए स्वयं प्रसन्नता पूर्वक कष्ट सहता है तथा आत्म-कल्याण एवं समाज-कल्याण हेतु इसका उपयोग करता है। लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों धर्मों की पालना में अहिंसा की व्यापकता के दर्शन होते हैं। लौकिक व्यवहार में अहिंसा का सम्यक् प्रयोग, जिसमें प्रतिकार भी सम्मिलित है, आवश्यक एवं विधायक भूमिका निभाता है। सम्यक् अहिंसा में प्रतिकार के साथ-साथ रचना का कार्य अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है। सेवा और रचनात्मक कार्यों से रिक्त प्रतिकार हिंसा है। या यों कहा जाए, यह दुर्बलों की अहिंसा है। इस प्रकार सम्यक् अहिंसा में शुद्ध भाव और विचार के साथ-साथ सेवा और रचना का भावात्मक कार्य—दोनों अपेक्षित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसक व्यवहार चाहे वह प्रतिकार के रूप में हो अहिंसक समाज के निर्माण के लिए आवश्यक होता है। इनसे मनुष्य में नैतिक क्रान्तिकारी और सृजनात्मक शक्ति विकसित होती है। इन तीनों प्रकार की शक्तियों के उदय से हृदय-परिवर्तन के द्वारा अहिंसक समाज का निर्माण होता है। यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती है। अहिंसा शास्त्र के अन्तर्गत यह समीचीन माना जायेगा कि आधुनिक अहिंसा प्रयोगकर्त्ता गाँधी की अहिंसा कोई आपातकालीन व्यवहार या दर्शन नहीं है। यह जीवन और चिन्तन की सामान्य प्रक्रिया है, जिससे अधिक-से- अधिक समता, न्याय और अशोषण पर आधारित समाज का निर्माण होता है। इसलिए गाँधी की अहिंसा, विचार, भाव, क्रिया-प्रक्रिया और शक्ति के अतिरिक्त एक व्यवस्था विशेष का नाम है, जिसमें अन्याय, शोषण, विषमता, कलह और परतंत्रता का अभाव रहता है। यह उस व्यवस्था का नाम है, जिसे अहिंसक समाज की संज्ञा दी जा सकती है। अहिंसक समाज व्यवस्था अहिंसा का साकार रूप है। यह एक ऐसे समाज की कल्पना है, जिसमें सभी प्रेम से रहते हैं और एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। गाँधी ने अपने सपनों के भारत में यह इच्छा प्रकट की है कि—''मैं वैसे भारत के लिए कार्य करूंगा, जिसमें गरीब से गरीब यह अनुभव कर सकेगा कि उसका देश है, जिसके निर्माण में उसकी आवाज का मोल है, वैसा भारत, जिसमें कोई ऊँच और नीच वर्ग में नहीं बांटा जाएगा, सभी जाति के लोग पूर्ण सहयोग के साथ रहेंगे, जहाँ छुआछूत और मद्यपान का अभाव होगा और स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर ही अपने अधिकारों का उपयोग करेंगी। चूँकि हमें विश्व के अन्य देशों के साथ शांति से रहना है, अत: न तो किसी का शोषण करना है और न शोषित होना है। सभी के हितों की चिन्ता करनी है।'' स्पष्ट है कि गाँधी अहिंसा को एक व्यवस्था का रूप प्रदान करना चाहते हैं। अहिंसक व्यवस्था में सिद्धान्तविहीन राजनीति, बिना श्रम के धन, विवेक रहित भोग, चरित्रहीन शिक्षा, नैतिक शून्य व्यवसाय, समर्पण रहित पूजा और मानवता विहीन विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं होता। यह सर्वोच्च समाज की व्यवस्था है, जो विकेन्द्रित राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा तंत्र मुक्ति में ही सम्भव है। अत: अहिंसा का अर्थ है अशोषण विकेन्द्रीकरण और तंत्र मुक्ति। अहिंसक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य और मानव के दृष्टिकोण सभी को रखा जा सकता है। अपने हिन्द स्वराज्य में गाँधी ने प्रचलित हिंसा पूर्ण व्यवस्था की कटु आलोचना की और एक नयी व्यवस्था की ओर संकेत किया। उनकी दृष्टि में अहिंसा एक सच्चे जनतंत्र के साथ जुड़ी है। अत: यह राज्य के आचरण का विषय है। जहाँ कहीं भी पूर्वाग्रह, अज्ञान, अन्धविश्वास और सत्ता के अपहरण का अभाव है तथा विचार की स्वतंत्रता, धर्म निरपेक्षता, अल्पमत की सुरक्षा,सहिष्णुता और सभी प्रकार के साधनों का उपयोग सबके लिए होता है, वहाँ अहिंसक राज्य हैं। अहिंसक राज्य कोई निरपेक्ष और पूर्ण व्यवस्था का सूचक नहीं है। कोई राज्य अधिक से अधिक अहिंसक हो सकता है। अहिंसक शिक्षा में हाथ, हृदय और मस्तिष्क—तीनों को समुचित पोषण मिलता है तथा उससे व्यक्ति का चरित्र निर्माण होता है। शीघ्र और कम खर्च कम कठिनाई से न्याय को उपलब्ध कराने वाली न्याय व्यवस्था अहिंसक है। संयम और प्रकृति की सहायता से की जाने वाली चिकित्सा अहिंसक है। जहाँ शांति के लिए अस्त्र-शस्त्रों तथा पुलिस और सेना का कम प्रयोग किया जाता है तथा अधिक से अधिक स्वयं सेवक सत्याग्रही उपलब्ध होते हैं, वहाँ शांति की सच्ची और अहिंसक व्यवस्था होती है। गाँधी के अनुसार विश्व की आवश्यकताओं की वस्तुओं पर अधिकार जमाने से भी अहिंसा धर्म का उल्लंघन होता है। अत: मानव में सही दृष्टिकोण को उत्पन्न करना अहिंसा के लिए आवश्यक है। अहिंसक व्यवस्था में पहले व्यक्ति का जीवन बदलता है, वह अपनी आवश्यकताओं को धीरे-धीरे कम करता है। उसकी आजीविका ईमानदारी पर आधारित होती है तथा वह जीवन के हर क्षेत्र में संयम से काम लेता है। वह अपने को समाज का सेवक मानने लगता है। अत: वह समाज के लिए ही उत्पादन करता है, समाज की भलाई के लिए ही खर्च करता है। ऐसी परिस्थिति में आजीविका में पवित्रता का आना स्वाभाविक है। गाँधी इसे अहिंसा कहते हैं। अत: अहिंसा न केवल आत्म-कल्याण अपितु पर-कल्याण हेतु भी सामर्थ्य रखती है। लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों धर्मों के निर्वहन हेतु अहिंसा कारगर है। लौकिक धर्म में जहाँ समाज कल्याण निहित है, वहीं लोकोत्तर धर्म में आत्मकल्याण निहित है। इस प्रकार अहिंसा की व्यापकता एवं विधायकता निश्चित रूप से स्थापित होती है।

1.4.15 अहिंसा की शक्ति

अहिंसा का अर्थ और स्वरूप जान लेने पर अब हम यह विचार करेंगे कि इसकी शक्ति कितनी अद्‌भुत और अमोघ है तथा यह कितनी व्यापक है। वर्तमान में हमारे हिंसा के वातावरण में रहने से हमारे संस्कारों में हिंसा की ही प्रमुखता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसलिए हमारी अहिंसा और प्रेम की शक्ति में श्रद्धा और विश्वास का होना कठिन है। तथापि गम्भीरता से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि अहिंसा में वह तेज और बल है, जिसकी हमने कल्पना भी नहीं की।

गाँधीजी ने कहा है—'मनुष्य की बुद्धि ने संसार में जो प्रचण्ड से प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र बनाये हैं, उनसे भी प्रचण्ड यह अहिंसा की शक्ति है। संहार कोई मानव धर्म नहीं है, मनुष्य अपने भाई को मार कर नहीं बल्कि जरूरत हो तो उसके हाथ से मर जाने को तैयार रहकर स्वतंत्रता के साथ जीवित रहता है। हत्या या अन्य प्रकार की हिंसा, फिर चाहे वह किसी भी कारण की गयी हो, मानव जाति के विरुद्ध एक अक्षम्य अपराध है। मैं यह नहीं जानता कि मनुष्य जाति प्रेम के नियम या कानून का अनुसरण करेगी या नहीं लेकिन इसमें मुझे परेशान होने की जरूरत नहीं। नियम अथवा कानून अपने आप काम करेगा, जिस तरह की गुरुत्वाकर्षण का नियम। हम चाहे मानें या न मानें, कानून अपना काम करता रहेगा। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों के प्रयोग द्वारा आश्चर्यजनक बातें पैदा करता है, उसी तरह यदि कोई व्यक्ति प्रेम का वैज्ञानिक यथार्थता के साथ प्रयोग करे तो वह इससे अधिक आश्चर्यजनक बातें पैदा कर सकेगा क्योंकि अहिंसा की शक्ति प्राकृतिक शक्तियों, उदाहरणार्थ बिजली आदि से कहीं अधिक अनन्त आश्चर्यजनक और सूक्ष्म है। जिस व्यक्ति ने हमारे लिए प्रेम के नियम अथवा कानून की खोज की, वह आजकल के किसी भी वैज्ञानिक से कहीं अधिक बड़ा वैज्ञानिक था। केवल हमारी शोध अभी और होनी चाहिए इतनी नहीं हुई है और इसलिए प्रत्येक के लिए उसके परिणाम देख सकना संभव नहीं है। कुछ भी हो, यह उसकी एक विशेषता है, जिसके अन्तर्गत मैं जितना प्रयत्न करता हूँ, उतना ही अधिक मुझे जीवन में आनन्द इस सृष्टि की योजना में आनन्द-अनुभव होता है। इससे मुझे शान्ति मिलती है और प्रकृति के रहस्यों का अर्थ जान पाता हूँ, जिनका वर्णन करने की मुझमें शक्ति नहीं है।'

1.4.16 स्थायी प्रभाव

आदमी हिंसा की ओर आकर्षित इसलिए हो जाता है कि उसका प्रभाव तत्काल दिखायी देता है, परन्तु वह क्षणिक ही होता है और अनेक बार उसकी प्रतिक्रिया बहुत बुरी होती है। स्थायी लाभ के लिए आदमी को दूर-दृष्टि रखनी चाहिए और ऐसा करने पर उसे अहिंसा को ही अपनाना चाहिए। गाँधीजी ने कहा है—'हिंसा-प्रिय व्यक्ति जब किसी कार्य को करता है तो उसके प्रभाव का तुरन्त पता लगता है, परन्तु वह अस्थायी होता है। एक तरफ हिटलर तथा मुसोलिनी और दूसरी ओर स्टालिन के हिंसात्मक कार्यों का तत्काल प्रभाव पड़ा, परन्तु यह चंगेजखाँ द्वारा किये गये नर-संहार के समान ही क्षणिक होगा। बुद्ध के अहिंसात्मक कार्यों का प्रभाव अब भी है और समय के साथ-साथ उसके बढ़ने की ही सम्भावना है। जितना ही अहिंसा का पालन किया जाता है, उतना ही इसका प्रभाव गम्भीर और अक्षय होता जाता है और इसके बाद अन्ततोगत्वा एक दिन आता है, जब संसार विस्फारित नेत्रों से कहता है—यह एक चमत्कार है।

गाँधीजी के समय भारत ने जिस अहिंसा की शक्ति का अनुभव किया, वह पूर्ण अहिंसा नहीं थी। गाँधीजी ने कहा है—'मैंने भारत के सामने अहिंसा का आत्यन्तिक रूप नहीं रखा है, इसीलिए कि मैं अपने को अभी वह प्राचीन संदेश देने योग्य नहीं पाता। यद्यपि मेरी बुद्धि ने इसे पूरी तरह समझ और ग्रहण कर लिया है किन्तु अभी तक वह मेरे समस्त जीवन-सम्पूर्ण अस्तित्व का अंग नहीं बन पाया है।'

अहिंसा का काफी समय प्रयोग करने के बाद भी गाँधीजी ने यही कहा—'कभी-कभी यह विचार आता है कि सब छोड़कर एकदम एकान्त में जाकर अपना प्रयोग चला कर देखूँ तो। अपनी शान्ति और कल्याण साधने के लिए नहीं, किन्तु आत्म-निरीक्षण के लिए, आत्मा की आवाज को अधिक स्पष्टता से सुनने क लिए, जगत् के ही कल्याण का प्रतिक्षण विचार हो और इस विचार की सहज-सिद्धि प्राप्त हो सके। तभी मेरा अहिंसा का प्रयोग सफल होगा। पूर्व अहिंसक मनुष्य गुफा में बैठा हुआ भी सारे जगत को हिला सकता है। पर उस विचार के पीछे पूर्ण एकाग्रता और पूर्ण शुद्धि होनी चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि यदि अहिंसा पूर्ण रूप में अमल में आये तो उसकी शक्ति कितनी अधिक होगी।

प्राय: हम लोग अहिंसा की अपेक्षा हिंसा की शक्ति बहुत अधिक मानते हैं। यह हमारा भ्रम है। बात यह है कि साधारणतया हमने अहिंसा का उतना अभ्यास या अनुभव नहीं किया है, जितना हिंसा का। कहना चाहिए हमें हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की निहित शक्ति का बहुत ही कम ज्ञान है। यदि व्यवहार में अहिंसा को अपना कार्य दिखाने का वैसा ही अवसर मिले, जैसा हिंसा को मिलता है तो इसका चमत्कार निश्चित रूप से सामने आये। गाँधीजी ने कहा है—'जिस तरह कहा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाता है कि राम नाम के प्रताप से पानी पर पत्थर तैरे, उसी तरह अहिंसा के नाम से जो प्रकृति चली, उससे देश में भारी जागृति हुई और हम आगे बढ़े। जिनका विश्वास अचल है वे इस प्रयोग को आगे बढ़ा सकते हैं। सामान्य अनुभव यह है कि बहुत-सी हिंसा का निवारण अहिंसा के द्वारा हो जाता है।

1.4.17 उच्च सक्रिय भावना

आदमी बिना खास विचार किए, रूढ़ि या परम्परा के तौर से अहिंसक व्यवहार कर सकते हैं, वह अच्छा तो है, पर वह वास्तव में अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो तभी है, जब आदमी इसका खूब विचार पूर्वक पालन करे और इसमें आने वाली बाधाओं के प्रति सजग रहे, उनका दृढ़ता से सामना करे और इसके लिए प्रत्येक प्रकार का कष्ट सहन करें। गाँधीजी का कथन है—रूढ़ि या आवश्यकता के कारण पाली जाने वाली अहिंसा में भौतिक परिणाम भले ही आवे किन्तु अहिंसा स्वयं में एक ऊँचे प्रकार की भावना है और उसका आरोपण तो उसी आदमी के सम्बन्ध में किया जा सकता है, जिसका मन अहिंसक है और जो प्राणी मात्र के प्रति करुणा और प्रेम से युक्त होता है। जो माक्षदायी है, परम धर्म है, जिसके निकट हिंसक प्राणी अपनी हिंसा छोड़ देते हैं, दुश्मन वैर-भाव का त्याग करते हैं, कठोर हृदय पिघल जाते हैं, वह अहिंसा कोई अलौकिक शक्ति है, वह बहु तपश्चर्या के बाद किसी-किसी का ही वरण करती है।

अहिंसा वास्तव में एक उदात्त अवस्था तथा दैवीय गुणों का द्योतक है, जिसमें सक्रियता भी है, जीवन भी है तथा कल्याण एवं मंगल की कामना भी है। इन्हीं देवी गुणों का वर्णन गीता में निम्नत: किया गया है—1. अभय, 2. सत्त्व संशुद्धि अर्थात् सत्त्व गुण में से सुखासक्ति रूपी अशुद्धता को त्याग देना, 3. ज्ञानपूर्वक कर्म करने की स्थिति, 4. दान, 5. दम अर्थात् इन्द्रिय दमन, 6. यदा अर्थात् कर्त्तव्य-निष्ठा, 7. स्वाध्याय, 8. तप, 9. आर्जव अर्थात् अकपट बर्ताव, 10. अहिंसा, 11. सत्य, 12. अक्रोध, 13. त्याग, 14. शांति, 15. अपैशुन्य अर्थात् किसी की निन्दा या चुगली न करना, 16. दया, 17. अलोलुपत्व अर्थात् लोभ न होना, 18. मार्दव अर्थात् दूसरों के दु:ख से दु:खी होना, 19. ह्री अर्थात् अनुचित् आचरण में लज्जा, 20. अचापल (चंचल न होना), 21. तेज, 22. क्षमा, 23. धृति या धैर्य, 24. शौच (शरीर और मन की शुद्धि), 25. अद्रोह और 26. नातिमानता अर्थात् नम्रता।

अहिंसा मानव जाति के लिए जन्म से मृत्युपर्यन्त आवश्यक है। अहिंसा के दर्शन का सूक्ष्म दृष्टि से विचार किये बिना न तो अहिंसा की साधना की जा सकती एवं न प्रयोग। अहिंसा उच्च उच्च सक्रिय भावना के रूप में जिनका दर्शन कराती है, वे हैं—प्रेम और सहयोग की भावना का विकास, निर्भयता का विकास और रचनात्मक कार्य में श्रद्धा करना।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा—'परस्पर सहयोग से रहो, प्रेम से रहो तभी हम आगे बढ़ेंगे।' इससे स्पष्ट है कि हिंसा का मूल है—खण्ड-खण्ड होना। अपनत्व या प्रेम का अभाव ही हिंसा का मूल है। आज सम्पूर्ण विश्व में जाति, वर्ग, भाषा, प्रान्त को लेकर दंगे हो रहे हैं। अपने-अपने दलों को लेकर जो हिंसा को प्रश्रय मिल रहा है, धर्म और सम्प्रदाय को लेकर रक्त बहाया जा रहा है, उसका कारण है—प्रेम का अभाव, अखण्ड व्यक्तित्व का अभाव। यदि यह सोचा जाता है कि 'मैं मानव हूँ' इससे अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ तो यही भावना मानव-मानव के बीच की भेद रेखा को पार कर प्रेम एवं सहयोग के वातावरण का निर्माण करेगी, जिससे अहिंसा का अवतरण स्वत: हो जायेगा।

दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर ने कहा है—'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाये' अर्थात् षट् जीव निकाय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस जीव) को अपने समान मानो। गीता में भी यही कहा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जहां सब प्राणियों को आत्मतुल्य माना जाता है, वहाँ मनुष्य अपने लिए होने वाली जीव हिंसा को प्रश्रय नहीं देता है। U.N.O. के महासचिव बुतरस घाली ने भी 1995 की अहिंसा और शांति पर होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस में अपना संदेश देते हुए कहा है—''आज वह समय आ गया है, जिसमें ईंट का जवाब पत्थर से नहीं बल्कि प्रेम व शांति से देना होगा। आज हर समस्या का समाधान अहिंसक व शांतिपूर्ण तरीकों में खोजा जाना चाहिए।''

जब प्रेम का भाव जाग्रत होता है तब संयम की बात आती है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्व भूएसु संयम' अर्थात् भगवान ने सभी प्राणियों के लिए अहिंसा को कल्याणकारी देखा। दूसरे शब्दों में सभी प्राणियों के प्रति संयमपूर्ण जीवन व्यवहार ही अहिंसा है। यहाँ अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष उजागर होता है कि मनुष्य का संयत जीवन ही अहिंसा की आधारभूमि है। गीता में एक स्थान पर यह भी आता है कि—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मनं ततो याति परां गतिम्।। (गीता XIII-28)

जो व्यक्ति ईश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वह कभी भी अपनी अपने द्वारा हत्या नहीं करता क्योंकि ऐसा व्यक्ति सबको अपने समान ही समझता है।

''यो समं पश्पन् ही सर्वत्र समवस्थिलमीश्वरनम्। न हिनस्थित आत्मना आत्मानं ततो याति परां गतिम्।'' ऐसा होने पर आत्मा आत्मा की हिंसा कर ही नहीं सकेगी।

1.5 सारांश

अहिंसा का विकास विनाशक कार्यों से नहीं हो सकता है। उसके लिए हमें रचनात्मक कार्यों पर श्रद्धा करनी होगी। विनोबा जी ने कहा — यदि कोई हमारे सामने तलवार लेकर आऐंगे तो हम वीणा लेकर जायेंगे। वे गुस्से से बात करेंगे तो हम प्रेम से बात करेंगे। वे कठोर शब्दों का प्रयोग करेंगे तो हम कोमल (मधुर) शब्दों का प्रयोग करेंगे। असत्य को सत्य से एवं हिंसा को अहिंसा से जीतना होगा। हमें ऐसे रचनात्मक कार्य पर श्रद्धा रखनी चाहिए। गाँधीजी ने कहा है — 'नूतन मानव जीवन की बुनियाद अहिंसा ही हो सकती है।' उनके उपरान्त विनोबाजी ने अहिंसा को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से भूदान एवं ग्रामदान आंदोलन प्रारम्भ किया। अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए खादी-उद्योग, ग्रामोद्योग, कुटीर-उद्योग, नयी तालीम, हरिजनोद्धार, जातिभेद, आदि तरह-तरह की रचनात्मक क्रिया हो। जहाँ ये सारी क्रियाएँ होंगी, वहाँ अहिंसा का अवतरण स्वत: ही हो जाएगा। गाँधीजी ने अहिंसा को न केवल मानव जीवन का अपितु समस्त विश्व का आधारभूत नियम माना है। उन्होंने सत्य-अहिंसा को समस्त विश्व का अन्तिम लक्ष्य माना। इस दृष्टि से सत्य-अहिंसा एक ही है। गाँधी ने अहिंसा के ईश्वरीय नियम तथा उसके समानार्थक भी माना है, जैसे — सत्य की तरह अहिंसा भी सर्वशक्तिमान और ससीम है और ईश्वर का समानार्थक है। अहिंसा हमारे भीतर आत्मशक्ति या ईश्वरीय शक्ति है। जिस प्रकार आत्मा का अस्तित्व शरीर के बिना हो सकता है उसी प्रकार अहिंसा भी देश-काल का अतिक्रमण किए बिना भौतिक साधनों की सहायता के भी कार्य कर सकती है। वह संसार की सबसे बड़ी और सबसे अधिक क्रियात्मक शक्ति है, यह विद्युत से अधिक क्रियाशील, आकाश से अधिक बलवान है, दूसरी सब शक्तियों के योग से भी शक्तिशाली और जीवन की एकमात्र शक्ति है।

1.6 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. हिंसा के कितने रूप हैं —
   (अ) तीन (ब) दो (स) चार ( )

2. अहिंसा के माने सूक्ष्म जंतुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव किसका कथन है —
   (अ) विनोबा (ब) गाँधी (स) गुरुदेव तुलसी ( )

3. अहिंसा के पालन के कितने कारण हैं —
   (अ) तीन (ब) दो (स) पाँच ( )

4. दैवी गुणों का उल्लेख किस ग्रन्थ में आता है? —
   (अ) आचारांग (ब) गीता (स) धम्मपद ( )

5. अहिंसा एवं शांति पर संयुक्त राष्ट्र संघ में कब कॉन्फ्रेंस आयोजित हुई थी —
   (अ) 1985 (ब) 1995 (स) 2002 ( )

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न—

1. हिंसा के अर्थ को स्पष्ट करें।
2. अहिंसा की आवश्यकता पर अपने विचार प्रकट करें।
3. अहिंसा के विस्तार का वर्णन करें।
4. अहिंसा व्यापक और विधायक है, स्पष्ट करें।

(स) निबंधात्मक प्रश्न—

1. अहिंसा का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसका तात्त्विक विवेचन करें।
2. उच्च सक्रिय भावना के रूप में अहिंसा का वर्णन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : वेद एवं उपनिषद् में अहिंसा एवं शांति एवं सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 वेदों में अहिंसा एवं शांति
  2.2.1 वैदिक परम्परा
  2.2.2 वेद ईश्वरीय ज्ञान है
  2.2.3 वेदों में अहिंसा एवं शांति
2.3 उपनिषद्
  2.3.1 उपनिषदों का काल
  2.3.2 उपनिषद् का अर्थ
  2.3.3 अहिंसा एवं शांति चिन्तन
2.4 सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति
2.5 सारांश
2.6 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

भारतीय परम्परा में मुख्यत: दो प्रकार की धार्मिक–दार्शनिक विचारधाराएँ स्वीकार की जाती हैं—ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा। ब्राह्मण परम्परा वेदों पर आधारित है। वेदों से जहां तत्कालीन मानव समाज के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त होता है, वहीं उपनिषद् तत्कालीन मानव के आध्यात्मिक उन्नयन का परिचय देते हैं। जहाँ वेद और उपनिषद् ने भारतीय मानस की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आधारशिला रखी, वहीं अन्य धर्म–दार्शनिक परम्पराओं ने भी अहिंसा की प्रतिष्ठा स्थापित की, जिसमें सांख्य योग का भी नाम आता है।

2.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में हमारा मन्तव्य वेदों, उपनिषद् एवं सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति के विचारों का परिचय प्राप्त करना है। इस पाठ के अन्तर्गत अध्ययन के निम्न बिन्दु होंगे—

(अ) वैदिक परम्परा, वेद परिचय, वेदों में अहिंसा एवं शांति

(ब) उपनिषद्–परिचय, रचनाकाल, उपनिषद् का अर्थ, अहिंसा एवं शांति चिन्तन

(स) सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति

2.2 वेदों में अहिंसा एवं शांति

भारतीय संस्कृति में दो अन्तर्धाराएँ प्रवाहित होती हैं—वैदिक विचारधारा तथा श्रमण–विचारधारा, जिन्हें वैदिक संस्कृति एवं श्रमण–संस्कृति भी कहा जाता है। चूँकि वैदिक संस्कृति में ब्राह्मण या पुरोहित अग्रणी समझे जाते हैं और इनके द्वारा निर्देशित कर्मकाण्ड–मार्ग का अन्य सनातनधर्मी अनुगमन करते हैं, इसे ब्राह्मण–संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। वेद, उपनिषद् आदि इसके आधार–ग्रन्थ हैं। श्रमण–संस्कृति की दो उपधाराएँ हैं—बौद्ध एवं जैन।बौद्ध संस्कृति के आधार–ग्रन्थ हैं पिटक आदि तथा जैन संस्कृति आगमों पर आधारित है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिपरक जीवन से प्रारम्भ होकर निवृत्तिपरक जीवन की ओर बढ़ती है किन्तु श्रमण–संस्कृति शुरू से ही निवृत्तिपरक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.2.1 वैदिक परम्परा

वैदिक परम्परा का श्रीगणेश वेदों से होता है। हिन्दू धार्मिक मान्यता के आधार पर वेद उन ईश्वरीय पवित्र प्रवचनों के संकलन हैं, जो अकाट्य और अमिट हैं। ऐतिहासिकता के आधार पर ये समूचे संसार की मानवकृत रचनाओं में सबसे प्राचीन हैं। प्राचीनता एवं ज्ञान-बाहुल्य के कारण वेदों की गणना संसार की उच्चतम कोटि की रचनाओं में होती है। वैदिक संस्कृति, साहित्य, धर्म एवं दर्शन के तो ये प्राण हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। इनमें से प्रत्येक के चार विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। इनके अलावा स्मृति, सूत्र, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण आदि वैदिक-परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

ऐसा माना जाता है कि संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि जितने भी विषय हैं, उन सब की नींव वेदों पर टिकी है। इसलिए मनु ने वदों को सर्वज्ञानमय कहा है और यही ककारण है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा मैक्समूलर जैसे आधुनिक विद्वानों ने भी वेद के उक्त ज्ञानमय स्वरूप को स्वीकार किया है। वेद हिन्दू जाति की सबसे पुरानी और सबसे पवित्र पुस्तक है।

2.2.2 वेद ईश्वरीय ज्ञान है

वेद कहते हैं ज्ञान के लिए। 'ज्ञान' शब्द का व्यापक अर्थ है। वेद शब्द से हम उस ईश्वरीय ज्ञान को लेते हैं, जिसको हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार पहले-पहले ऋषि-महर्षियों ने खोजा था। इसलिए ऋषियों द्वारा दृष्ट ज्ञान ही वेद शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है। इस ज्ञान को हिन्दू धर्म ने ईश्वरीय आदेशों के रूप में शिरोधार्य माना है।

जिस समय वेदों का सृजन हुआ उस समय भारत में सम्भवत: कोई लेखन प्रणाली प्रचलित नहीं हुई थी लेकिन ब्राह्मणों के अदम्य उत्साह के कारण अपने गुरुओं से मंत्रों को श्रवण कर कंठस्थ किया हुआ यह सारा साहित्य कम से कम लगभग पिछले 3000 वर्षों से बिना किसी परिवर्तन या क्षेपकों के शुद्ध रूप से ज्यों का त्यों विद्यमान है। भारतीय धार्मिक इतिहास में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए परन्तु सभी हिन्दू वर्गों की वैदिक साहित्य में ऐसी श्रद्धा और विश्वास है कि वेद सभी कालों में उच्चतम शास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त करते आए हैं। वेदों के रचनाकाल का निर्धारण बड़ी कठिन समस्या रही है। मैक्समूलर ने 1889 में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक अपने ग्रन्थ में उपरितम समय-सीमा 1200 वर्ष ईसा पूर्व प्रस्तावित किया, जिसका अधिकांश पश्चिमी विद्वानों ने समर्थन किया। तिलक और याकोबी ने ज्योतिष के साक्ष्य पर अपनी स्वतंत्रता गवेषणाओं के आधार पर क्रमश: 6,000 वर्ष तथा 4,500 वर्ष ई. पूर्व से वैदिक युग का आरम्भ माना। वर्तमान में भी वेदों के काल संबंधी नवीन मत सामने आ रहे हैं।

2.2.3 वेदों में अहिंसा एवं शांति

ऋग्वेद का समय राधाकुमुद मुकर्जी ने वही माना है, जो सिन्धु-सभ्यता का माना गया है। ऋग्वेदकालीन भारतीय संस्कृति एवं सिन्धु-संस्कृति के संबंध को देखते हुए उन्होंने दोनों के लिए ई. पूर्व 3250 समय निर्धारित किया है। वेदकालीन मानव प्रकृति नटी की गोद में पलने के कारण उदार हृदय वाला था तथा उसका मस्तिष्क उलझनों से परे था। सामान्य तौर से वह दूध, दही, घी, खीर, चावल, रोटी, फल आदि खाता था। साथ ही उन बैलों, भेड़ों और बकरों के मांस भी उसकी भोज्य सामग्रियों में शामिल थे, जो यज्ञों में बलि स्वरूप मारे जाते थे। यदा-कदा दवा आदि के रूप में वह कुत्ते का मांस भी काम में लाता था—

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जाययामहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार।।

गाय को वह अवध्य तथा बहुत अच्छी सम्पत्ति मानता था, यद्यपि यज्ञ में वैसी गायों की बलि भी वह देता था, जो बाँझ होती थीं और पात्र बनाने तथा गाड़ी आदि बाँधने के काम में गोचर्म का प्रयोग करता था। वह शिकार खेलने का आदी था अत: सुअर, भैंसा, सिंह आदि को मारने या पकड़ने में आनन्द का अनुभव करता था। उसके सामने मानव एवं पशु से परे आनन्द या कष्ट देने वाली कोई शक्ति थी तो वह प्रकृति ही थी। वह प्रकृति के विभिन्न रूपों या विभिन्न अंगों की पूजा किया करता था, जिससे कि वह कष्ट से मुक्त हो पाता और आनन्द की प्राप्ति करता। अत: उसके पूज्य देवताओं की संख्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बहुत ही अधिक थी। निरुक्तिकार यास्क के अनुसार स्थान-विभाग की दृष्टि से देवताओं की तीन श्रेणियाँ हैं—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्ष स्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान देवताओं में अग्नि का, अन्तरिक्ष स्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का स्थान सबसे ऊँचा एवं महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिकों ने इस बहुदेवता-पूजन को प्राकृतिक बहुदेवतावाद (Naturalistic Pluralism) नाम दिया है, जो धीरे-धीरे आवसरिक एकदेवतावाद (Henotheism), एकदेवतावाद (Monotheism) तथा ब्रह्मवाद (Monism) के रूप लेता है।

स्वाभाविक सरलता एवं निष्कपटता के कारण वेदकालीन मानव के सामने न कोई पेचीदी समस्या थी और न तो उसके समाधान के लिए कोई ऊँचा सिद्धान्त ही। जब वह किसी प्रकार का वैयक्तिक या सामाजिक, शारीरिक या मानसिक तथा मानुषिक या अमानुषिक कष्ट पाता था तो अपने देवताओं की आराधना करता था, उसके निमित्त तरह-तरह की आहुतियाँ देता था और कष्ट निवारण के लिए प्रार्थना करता था। अतः वेदों में प्रार्थना एवं प्रशंसा की भरमार है। उन प्रार्थनाओं में हिंस्य आदिशब्दों का उल्लेख मिलता है, यथा—

1. अस्मे ता त इन्द्र सनतु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः।

2. आदिन्मातृराविशद् यास्वा शुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे।
अनु यत् पूर्वा अरुहत् सनाजुवो नि नव्यसीष्ववरासु धावते।।

3. प्रयच्छ पशु त्वरया हरीषमहिंसन्त औषधीदन्ति पर्वन्।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नौ वीरुधो भवन्तु।।

4. याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः।
अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्।।

5. तर्द है पतंग है जभ्य हा उपक्कस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान् यवानहिंसन्तो अपोदित।।

अहिंसा विचार को प्रतिष्ठित करते हुए आगे कहा है कि यज्ञ के जो पाँच उपकरण (धान्य, सोम, पशु, पुरोडास और घृत) हैं, यथायोग्य उनको मैं रखता हूँ।

पंच पदानि रूपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमिव्रतेन।
अक्षरेण प्रतिमिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि।।

यद्यपि मंत्र में उपकरणों के नाम स्पष्टतः नहीं दिए गए हैं लेकिन टीकाकारों ने नामों को भी प्रकाशित किया है और उनमें पशु भी एक उपकरण है, जिसकी आवश्यकता यज्ञ में होती है। इससे भी आगे 'यूप' की चर्चा मिलती है, जिसमें यज्ञ के पशु बाँधे जाते हैं।

उपावसृजत्मन्या समंजन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निःस्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन।।

इनसे यह जाहिर होता है कि यज्ञ में पशुओं की बलि दी जाती थी। फिर भी वेदों में कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ पर स्पष्ट या गौण रूप से अहिंसा एवं शांति के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, जैसे—

''हम अभी गमन (संगति) प्राप्त करें। मित्रभूत अथवा मित्र द्वारा दर्शित मार्ग से हम गमन करें। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमें गृह में प्राप्त हो।''

यन्नूनमश्यां गीतं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे।।

इस कथन में सुख, अहिंसा, मित्र तथा मार्ग शब्द संबंधित से दीखते हैं—गृह में सुख की प्राप्ति हो; सुख जो मित्र के द्वारा अथवा उसके सहवास से प्राप्त हो; मित्र जो अहिंसक है; तथा मित्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर प्रस्थान करें। अर्थात् अहिंसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक ऐसी वस्तु है, जो हितकारी या सुख एवं शांति देने वाली है और इसका संबंध मित्र से ही हो सकता है, शत्रु से नहीं। जिसके प्रति मन में शत्रुता का भाव होगा, उसके प्रति अहिंसा का व्यवहार करना या अहिंसा का भाव रखना असंभव है। पुनः ऋग्वेद में कहा है कि हे वरुण! यदि हम लोगों ने उस व्यक्ति के प्रति अपराध किया हो जो हम लोगों को प्यार करता है, यदि कोई गलती अपने मित्र या साथी, जो कि पड़ोसी है अथवा किसी अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई घात किया हो तो हमारे अपराधों का नाश करो।

आगे कहा है—

''पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः''

मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह एक-दूसरे की रक्षा करे। यजुर्वेद में देखा जाता है—

''मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।''

अर्थात् मैं सभी प्राणियों को मित्रवत् देखूँ। आपस में सभी एक-दूसरे को मित्र के समान देखें। इसी तरह अथर्ववेद में कहा है—

''तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः''

अर्थात् हम सभी एक साथ ऐसी प्रार्थना करें, जिससे कि आपस में सुमति और सद्भाव का प्रसार हो। फिर एक उक्ति मिलती है—

''याश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि''

अर्थात् भगवन् आपकी कृपा से मैं सभी मनुष्यों के प्रति, चाहे मैं उनसे परिचित होऊँ अथवा नहीं, सद्भाव रखूँ।

इतना ही नहीं बल्कि विश्व-शांति के भाव पर बल देते हुए कहा गया है कि सूर्य की किरणें हम सभी के लिए (मनुष्यमात्र के लिए) शांति प्रदान करने वाली हों और सभी दिशाएँ भी शांतिदायिनी हों। यजुर्वेद में तो शान्ति की भावना के विस्तार की कामना पृथ्वी लोक से लेकर द्युलोक और अन्तरिक्ष लोक तक की गई हैं। जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, सभी देवता एवं ब्रह्म सब के सब शांति देने वाले हो। विश्व ही पूर्ण शांतिमय हो।

द्यौःशांतिरन्तरिक्षं शांतिः पृथ्वी शान्तिरापः शांतिरोषधयः शांतिः।
वनस्पतयः शांतिर्विश्वे देवाः शांतिर्ब्रह्म शांतिः सर्वं शांतिः शान्तिरेव शांतिः सा मा शांतिरेधि।।

''हिंस्र'', ''हिंस्राशनिर्हरसा'', ''हिंस्रं'' तथा ''हिंसते'' आदि शब्द मिलते हैं, यथा—

1. उभोमयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याहि राज जम्भैःसंधेह्यभि यातुधानान्।।

2. अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणिजातवेदशृणीहि क्रव्यात्क्रव्यात्क्रविष्णुर्विचिनोतु वृक्णाम्।।

3. तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं पाज्वं वसुभ्यः प्रणय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्याभि शोशुचानं मा त्वा दमनयातुधाना नृचक्षः।।

4. यो अस्य स्याद वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति।।

किन्तु इन शब्दों से हिंसा अथवा अहिंसा के नैतिक रूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। कारण, इन शब्दों के द्वारा अधिक जगहों पर राक्षसों को मारने के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वे राक्षस कौन थे? सामान्यतः राक्षस का अर्थ दुष्ट या दुराचारी होता है। अतः दुराचारी या दुष्ट जिससे समाज या राष्ट्र की हानि हो उसके विनाश की भावना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कुछ हद तक अहिंसा के अन्तर्गत आ सकती है। किन्तु हो सकता है कि ''राक्षस'' शब्द से उन आदिवासी अनार्यों को सम्बोधित किया जाता रहा हो, जिन्हें आर्य लोग नीच तथा निकृष्ट समझकर अपने से दूर रखना चाहते थे। या राक्षस कहे जाने वाले वही लोग तो नहीं थे, जिनके वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थों में ''राक्षसगण'' के रूप में मिलते हैं। इस विषय में एक निश्चित जानकारी प्रस्तुत करना स्वयं एक शोध का विषय बन जाता है। अत: इन शब्दों को निश्चित रूप से न हिंसा का और न अहिंसा का ही समर्थक कहा जा सकता है।

मैत्रायणी संहिता में अग्नि से प्रार्थना की गई है—''हे प्रज्वलित लपटों से जाज्वल्यमान अग्नि! अपनी देह से मेरी प्रजा को कष्ट मत दो अथवा मत मारो''

ठीक इसी तरह की प्रार्थना तैत्तिरीय संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण में मिलती है—

1. **प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिस्त्वम्।**
   बृहद्भिभनुिभिभसिन्भहिंसीस्तनुवा प्रजा:।।
2. **प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि। शिवेभिरर्चिभिष्ट्वमिति**
3. **प्रेदग्ने त्वं ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिर्द्दीप्यमानैरित्थेतद् बृहद्भिभनुिभबभसिन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजा इति बृहद्भिरर्चिभिर्द्दीप्यमानैर्माहिंसीरात्मना प्रजा इत्येतत्।।**

किन्तु यहाँ ''प्रजा'' शब्द भी दो अर्थ रखता है—सन्तान एवं जनता। परन्तु दोनों ही अर्थों में यह संकुचित और स्वार्थाधीन जान पड़ता है। यदि कोई अपनी सन्तान के रक्षार्थ प्रार्थना करे अथवा कोई राजा अपनी जनता को बचाने के लिए प्रार्थना करे तो ये दोनों ही प्रार्थनाएँ अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करतीं क्योंकि अहिंसा का सिद्धान्त ऐसी स्वार्थपरता से बिल्कुल ही परे हैं। जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन महज इसलिए किया जाता है कि अपनी आत्मा की शुद्धि हो, इसमें दूसरे के हित की बात उद्देश्यरूप में नहीं आती है। अतएव इस दृष्टिकोण से अहिंसा भी स्वार्थ की सीमा के अन्दर आ जाती है। किन्तु सामान्य दृष्टिकोण से अहिंसा का सिद्धान्त पर-हितकारी समझा जाता है और ऐसी हालत में जहाँ अपने लोगों के हित की बात आती है तो उससे इसे अलग समझना ही उचित समझा जाता है।

यह सर्वव्यापक है, अर्थात् सभी जीवों के लिए है। इसके अलावा ऋग्वेद में यों कहा गया है—

''सब वेदों के लिए उपयुक्त छाग पूषा के ही अंश में पड़ता है। उसे शीघ्रगामी अश्व के साथ सामने लाया जाता है। अतएव त्वष्टा देवता के सुन्दर भोजन के लिए अश्व के साथ इस छाग से सुखाद्य पुरोडाश तैयार किया जाए।''

एषच्छाग: पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्य:।
अभिप्रियं यत्पुरोडाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति।।

इन उक्तियों को देखकर क्या कोई कह सकता है कि वैदिक युग में अहिंसा एवं शांति भाव का संचार न था। भले ही अहिंसा शब्द पर उस समय कोई प्रकाश नहीं दिया गया हो ऐसा माना जा सकता है लेकिन भाव रूप में तो अहिंसा की पूरी अभिव्यक्ति हुई है तथा शांति की कामना की है। यद्यपि ऋग्वेद और अथर्ववेद में अहिंसा की सीमा मात्र मनुष्य तक ही दिखाई गई है किन्तु यजुर्वेद में अहिंसा भाव का पूर्ण विकास मिलता है, जहाँ पर सभी प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव व्यक्त किया गया है और विश्व-शांति की कामना की गई है।

2.3 उपनिषद्

उपनिषदों को वेदान्त के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे वेद के अन्तिम भाग हैं। अत: उपनिषदों का दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से प्रचलित है। उपनिषदों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत है और उनके उद्देश्यों से भी ज्ञात होता है कि उस युग के महानतम बौद्धिक दर्शन के सत्य प्रतीक उपनिषद् ही हैं क्योंकि ये वेदों के उपसंहार के रूप में लिखे गए थे अत: वेद की जिस शाखा के अन्तर्गत किसी दर्शन विशेष का अध्ययन किया गया था, उस शाखा के वैदिक शब्दों व नामावली का प्रयोग भी उस दर्शन विशेष में पाया जाता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Lalnun

उपनिषद्, वैदिक भावना के विकास रूप हैं। कर्म और ज्ञान, दोनों की उद्भावना वेदों में है। उनकी कर्मभावना को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई और ज्ञानभावना को लेकर उपनिषद् रचे गये। कर्मप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों का विधान जब पशुहिंसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया था तब उस युग के विचारवन्त मनीषियों ने कर्मकाण्ड की इस अविचारित पद्धति का विरोध करना आरम्भ किया। उन्होंने पुरोहितों द्वारा बताये गये भोगवादी, नितान्त स्वार्थपूर्ण कार्यों को हेय कहकर आलोचना की। फलतः कर्मकाण्ड के विरोध में ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ कहलाये उपनिषद्। उपनिषदों का यह युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा। इस युग में नये अन्वेषण और नये चिन्तन होकर नयी मान्यताएँ स्थापित हुईं।

उपनिषदों में जीवन की शाश्वत मान्यताओं के प्रति अपने-अपने ढ़ंग से विचार किया गया। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग था। इसलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की विशेष चिन्ताएँ न तो वेदों में हैं और न ही उन पर विचार करने की अपेक्षा वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार वेदों में अवश्य है; किन्तु आत्मा का आवागमन उनमें नहीं बताया गया है। यह विषय उपनिषद्ग्रन्थों की रचना के बाद प्रस्तुत किया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषदों में ही डाला गया। इस दृष्टि से मंत्रसंहिताओं और उपनिषदों की भिन्नता स्पष्ट है। वेदों के आनन्दमय और प्रेममय जीवन में निरानन्द और उदासी का वातावरण तथा वेदों से निश्चिन्त एवं स्वच्छन्द जीवन में चिन्ता और भय का उदय उपनिषदों की रचना के बाद आरम्भ हुआ। जन्म, मरण, संन्यास, वैराग्य क्या है, इसका विचार पहले-पहल उपनिषदों के द्वारा प्रकाश में आया, जिसने अहिंसा एवं शांति की संस्कृति को प्रतिष्ठित किया।

सभी भारतीय दर्शन उपनिषद्-दर्शन से विकसित हुए हैं और जो उपनिषदों से नहीं निकला है वह दर्शन ही नहीं है, यह मान्यता भारतवर्ष में बहुत दिनों तक प्रचलित थी। इसके फलस्वरूप अनेक नये उपनिषदों की रचना हुई, जो वास्तव में नये धार्मिक सम्प्रदायों को उपनिषद्-मूलक सिद्ध करने के लिए रचे गये। किसी धार्मिक सम्प्रदाय की प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित करने के लिए उसके मूल को उपनिषदों की भाषा और शैली में लिखा जाता रहा है। यद्यपि यह सत् प्रयास नहीं तथापि यह सिद्ध करता है कि उपनिषदों का कितना प्रभाव समस्त भारतीय दर्शन पर है। उपनिषद् एक ओर सभी दर्शनों के उद्गम स्थान हैं तो दूसरी ओर वे उनके प्रामाण्य की कसौटी भी हैं। जो दर्शन उपनिषदों से सत्यापित है, वह सत्य है और जो उनसे सत्यापित नहीं है, वह असत्य है। यही नहीं, जो सत् उपनिषद्गम्य है वही सत् है, जिज्ञास्य है और जो अनौपनिषदिक है, वह असत् है, हेय है। यह मान्यता उपनिषद्-काल में ही इतनी प्रबल हो चली थी कि उस काल में दार्शनिक एकमात्र औपनिषद्पुरुष (मूल तत्त्व) को ही जानना चाहते थे—तं त्वौपनिषद् पुरुषं पृच्छामि।

प्राचीनतम उपनिषद् गद्य में लिखी हुई हैं। इनके पश्चात् वे उपनिषद् हैं जो लौकिक संस्कृत श्लोकों से मिलते हुए श्लोकों में लिखी हुई हैं। जैसाकि स्पष्ट है जो उपनिषदें जितनी पुरानी हैं, उतनी ही उनकी भाषा पुराने ढंग की हैं। प्रारम्भिक उपनिषदों की भाषा बड़ी प्रभावशाली, रहस्यमयी तथा शक्तिशाली है और भारतीयों के हृदय को प्रभावित कर देती हैं। इनकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल और हृदय को प्रभावित करने वाली है। उपनिषद् शब्द का प्रयोग रहस्यमय सिद्धान्त एवं उद्देश्य के अर्थों में किया जाता था अतः इनका उद्देश्य भी केवल ऐसे जिज्ञासुओं को इस ज्ञान का वितरण था, जो मोक्ष की आकांक्षा से संयम और नियमों का पालन करते थे और जिनका चरित्र उच्च था और जिन्होंने अपने आप को इस योग्य बना लिया था। शॉपेनहावर लिखते हैं—''उपनिषदों की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ कितना निश्चित,सुस्पष्ट एवं मधुर है। प्रत्येक वाक्य गंभीर (गहरा), मौलिक एवं प्रौढ़ विचारों से युक्त, सारा ग्रन्थ पवित्र एवं उच्च विचारों से आप्लावित है। यह सत्य की जिज्ञासा से ओत-प्रोत है। सारे विश्व में उपनिषदों के समान कल्याणकारी एवं श्रेयस्कर कोई भी अन्य विद्या नहीं है। यह मेरे जीवन में एक विभिन्न आत्मिक आनन्द देती रही है और मृत्यु पर्यन्त मेरे लिए शान्ति एवं धैर्य का कारण होंगी।

2.3.1 उपनिषदों का काल

सभी उपनिषदों का काल एक ही नहीं है। अल्लोपनिषद् की रचना सम्राट अकबर के समय में की गयी और मठाम्नायोपनिषद् की रचना (किन्हीं?) शंकराचार्य ने की; वज्रसूनिकोपनिषद् की रचना अश्वघोष ने की या उनके समय में की गयी। इसी प्रकार राधोपनिषद् की रचना उस समय हुई जब भक्ति काल में भारत के धार्मिक साहित्य में राधा का प्राकट्य हुआ। इसी प्रकार अनेक उपनिषदों के बारे में कहा जा सकता है कि वे शंकराचार्य के बाद के हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

डॉ. पाल डायसन ने उपनिषदों का काल निश्चित करते हुए उन्हें चार क्रमिक युगों की रचना माना है। इन चार कालों में जिन उपनिषदों की रचनाएँ हुई, निम्न हैं—

1. प्राचीन गद्यात्मक उपनिषद्—जिनमें क्रमशः बृहदारण्यक और छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि और केन आते हैं।

2. पद्यात्मक उपनिषद्—जिनमें कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक आते हैं।

3. परवर्ती गद्यात्मक उपनिषद्—जिनमें प्रश्न, मैत्रायणी और मांडूक्य आते हैं।

4. परवर्ती अथर्ववेदी उपनिषद्—जिनमें गर्भ, प्राणाग्निहोत्र, पिंड आदि अधिक उपनिषद् आते हैं।

चौथे वर्ग के उपनिषद् शंकराचार्य के परवर्ती हैं और प्रथम तीन वर्गों के उपनिषद् प्राचीन उपनिषद् कहे जाते हैं। पाल डायसन ने दिखलाया है कि बादरायण ने छांदोग्य, बृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय, कौषीतकि, मुंडक और प्रश्न उपनिषदों का उपयोग अपने ब्रह्मसूत्र में किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम तीन वर्ग के चौदह उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन हैं। वास्तव में वे बादरायण के बहुत पहले के हैं। वे गौतम बुद्ध के भी पहले के हैं। इन चौदह उपनिषदों में एक उपनिषद् मैत्रायणी-उपनिषद् है, जिसको पाल डायसन ने प्राचीन उपनिषदों के अन्तिम वर्ग में रखा है। इस उपनिषद् में एक वाक्य है—'मघाद्यम् शविष्ठार्धम् आगनेयम् क्रमेण।' इस वाक्य से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने सिद्ध किया है कि मैत्रायणी उपनिषद् का काल 1200 या 1400 ई. पू. है। इस वाक्य का अर्थ है कि माघ नक्षत्र के आरम्भ से क्रमशः घनिष्ठा नक्षत्र के आधे भाग तक पहुँचने तक दक्षिणायन होता है। उदगयन की स्थिति बताने वाला यह वाक्य निश्चित ही उसी समय रचा गया होगा, जब उदयगयन की वैसी स्थिति रही होगी। इस आधार पर गणना करके तिलक जी ने सिद्ध किया कि मैत्रायणी उपनिषद् का काल 1200 या 1400 ई.पू. है। कुछ भी हो, इस बात पर आजकल प्रायः सभी विद्वानों में मतैक्य है कि 14 प्राचीन उपनिषदों का काल निश्चय ही गौतम बुद्ध के पहले हैं। इन्हीं चौदह उपनिषदों के दर्शन का विवेचन हम यहाँ करेंगे। अन्य अधिकांश उपनिषदों के दर्शन हमारे मत से उपनिषद्-काल के दर्शन नहीं हैं। वे परवर्ती युगों में रचे गये और अपने युग की दार्शनिक विचारधारा को व्यक्त करते हैं।

2.3.2 उपनिषद् का अर्थ

उपनिषद् शब्द के मुख्य अर्थ के बारे में विवाद है। इस प्रसंग में निम्नलिखित चार मत प्रचलित हैं—

1. ओल्डेनवर्ग का मत है कि उपनिषद् का अर्थ उपासना है। यहाँ ब्रह्म या आत्मा का ध्यान करना उपनिषद् है। किन्तु पाल डायसन ने ठीक ही इस मत के खण्डन में कहा है कि—1. उपासना में उप+आस् और उपनिषद् में उप+सद् दो भिन्न-भिन्न धातुएँ हैं, 2. आत्मा उपास्य नहीं है तथा 3. आत्मा जिज्ञास्य है। अतः यह मत ठीक नहीं है।

2. शंकराचार्य का मत है कि उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या है क्योंकि वह संसार का अत्यन्त उच्छेद करती है और जिन ग्रन्थों का प्रयोजन ब्रह्मविद्या है, उनको भी उपनिषद् कहा जाता है। इस प्रकार उनके मत से उपनिषद् का वाच्यार्थ ब्रह्म-विद्या है और लक्ष्यार्थ ब्रह्मविद्या-विषयक ग्रन्थ। अन्यत्र उन्होंने उपनिषद् शब्द की निरुक्ति देते हुए कहा है कि उप और नि उपसर्ग के साथ सद् धातु में क्विप् प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द बनता है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं—नाश करना, ले जाना और शिथिल करना। जो विद्या विद्यार्थी को ब्रह्म के पास ले जाती है, संसार-बीज का विनाश करती है और पुनर्जन्म कराने वाले कर्मों को शिथिल करती है, वह उपनिषद् है। फिर शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि उपनिषद् के ये लक्षण किसी ग्रन्थ में सम्भव नहीं है इसलिए अभिधावृत्ति से उपनिषद् का अर्थ ब्रह्मविद्या ही है; कारण, ब्रह्मविद्या में उपनिषद् के ये तीनों लक्षण मिलते हैं। लक्षण-वृत्ति के द्वारा जिस ग्रन्थ में ब्रह्मविद्या का वर्णन रहता है उसको भी उपनिषद् कहा जाता है।

3. डॉ. पाल डायसन ने उपनिषद् के बारे में हिन्दू मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ किसी जिज्ञासा को लेकर गुरु के समीप (उप) निश्चय के लिए (नि) बैठना (सद्) है। इस प्रकार का बैठना प्रायः एकान्त में (रहसि) होता था और गुरु शिष्य को किसी गोपनीय विद्या की शिक्षा देता था। इस कारण बाद में चलकर इस रहस्यमयी विद्या या शिक्षा के लिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग होने लगा। अन्त में जिन ग्रन्थों में यह विद्या है उनको भी उपनिषद् कहा जाने लगा।

4. पाल डायसन ने तीसरे मत का समर्थन करते हुए निश्चित किया है कि उपनिषदों में कहीं-कहीं 'इति उपनिषद्' शब्द का प्रयोग है, तो कहीं-कहीं 'इति रहस्यम्' शब्द का। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् का अर्थ रहस्य है। इसका व्याख्यान

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करते हुए उन्होंने लिखा है कि उपनिषद् का अर्थ रहस्यमय प्रतीक, रहस्यमय शब्द, रहस्यमय नाम, रहस्यमय सूत्र, रहस्यमय ज्ञान और रहस्यमय उपदेश है। आगे उन्होंने इन सब अर्थों को तीन अर्थों में वर्गीकृत किया है—

(क) रहस्यमय शब्द, जैसे—तज्जलाना या नेति नेति।

(ख) रहस्यमय ग्रन्थ, जैसे—तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के अन्तिम दो अनुवाकों के अन्त में 'इति उपनिषद्' शब्द का प्रयोग।

(ग) रहस्यमय अर्थ, जैसे छांदोग्य उपनिषद् में उद्गीथ शब्द के विमर्श को उपनिषद् कहा गया है।

5. किन्तु पाल डायसन का मत पर भी पूर्ण सहमति नहीं है; कारण, उपनिषद् व्याख्यानपरक हैं। अनेक जगह किसी वाक्य को कहकर उसका उपव्याख्यान किया गया है। उदाहरण के लिए मांडूक्य-उपनिषद् में ''ओम् इति एतद् अक्षरं इदम् सर्वम् तस्योप-व्याख्यानम् भूतंभवदभविष्येद् इति'' कहा गया है। यहाँ ओम् सम्पूर्ण सत्ता है, इसका उपव्याख्यान किया गया है। ''उपनिषदम् व्याख्यास्याम:'' ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है। उपनिषदों में सर्वत्र व्याख्या और उसके जानने पर बल है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् के अर्थ में व्याख्या-तत्त्व रहस्यमय नहीं है। वह पूर्ण बौद्धिक व्याख्या है। वास्तव में वेदों में जो दर्शन है, उसी की व्याख्या उपनिषद् हैं। इस दर्शन को हम प्रातिभ-ज्ञान कह सकते हैं। प्रातिभ ज्ञान से जो तत्त्व प्राप्त होता है, उसकी व्याख्या उपनिषद् है। ऐसा मानने से शंकराचार्य के द्वारा निश्चित किया गया उपनिषद् अर्थ ऐतिहासिक सिद्ध होगा और भाषा-विज्ञान के आधार पर भी उसका औचित्य स्पष्ट हो जाएगा। शंकराचार्य का यह मत सही है कि उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और गौण अर्थ ब्रह्मविद्या-विषयक ग्रन्थ है। उपनिषदों के इतिहास में इन दोनों अर्थों को मिलाकर एक नया शब्द वेदान्त प्रचलित हुआ है। उपनिषद् शब्द अक्षरश: और अर्थत: वेदान्त है। स्वयं उपनिषदों में ही उपनिषद् के अर्थ में वेदान्त का प्रयोग हुआ है। अत: उपनिषद् का अर्थ वेदान्त भी माना जाता है।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त दृष्टिकोणों से उपनिषद्-दर्शन के जो व्याख्यान किये गये हैं, वे एकांगी और अपर्याप्त हैं। यद्यपि यह सत्य है कि उपनिषदों में शाश्वत धर्म और दर्शन के बीज हैं, तथापि उनका विकास आधुनिक युग में स्वतंत्र रीति से होना चाहिए, न कि किसी पाश्चात्य प्राचीन या अर्वाचीन दर्शन के संदर्भ में। पुन: यह सत्य है कि उपनिषद्-दर्शन का विकास किसी विशेष युग में हुआ और उसका सम्बन्ध उसके पूर्वकालीन और उत्तरकालीन दर्शनों से है, तथापि इन दर्शनों के सन्दर्भ में उसकी व्याख्या करना उसके शाश्वत सत्य को नकारना है। ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और तुलनात्मक व्याख्याओं की अपेक्षा उपनिषदों की दार्शनिक व्याख्या अधिक समीचीन है।

2.3.3 अहिंसा एवं शांति चिन्तन

उपनिषदों ने कर्मकाण्ड यानि यज्ञादि से ज्यादा ज्ञानकाण्ड को प्रधानता दी है। इनमें बहुदेवतावाद का स्थान ब्रह्मवाद को मिलता है और सांसारिक सुख-सुविधा के बदले उपनिषद्कालीन लोग मोक्ष पर बल देते थे। यद्यपि उनके भोजन आदि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वे चावल, रोटी, दूध, घी आदि के साथ मांस भी खाते थे। भले ही वह मांस बलि दिए गए पशु का हो अथवा साधारण तरह से मारे गए पशु का ही हो।

किन्तु इतनी बात अवश्य है कि अहिंसा का सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् में ही होता है—उस आत्मज्ञान का ब्रह्मा ने प्रजापति के प्रति वर्णन किया, प्रजापति ने मनु से कहा, मनु ने प्रजावर्ग को सुनाया। 'नियमानुसार गुरु के कर्त्तव्य-कर्मों को समाप्त करता हुआ वेद का अध्ययन करता हुआ (पुत्र-शिष्यादि को) धार्मिक कर सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्त:करण में स्थापित कर शास्त्र की आज्ञा से अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करता हुआ वह निश्चय ही आयु की समाप्ति पर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ (अन्त में) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता है।'

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवेमनु: प्रजाभ्य: आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरो: कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य: स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।।

इसके पहले ही अध्याय 3 में आत्मज्ञानोपासना का वर्णन करते हुए कहा है कि तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्य-वचन इसकी (आत्मयज्ञ की) दक्षिणा है—

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिमा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघु उपनिषदों, जैसे प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् एवं आरणिकोपनिषद् आदि में भी अहिंसा को सद्गुण या आत्म-संयम के प्रमुख साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में स्मृति, दया, शान्ति तथा अहिंसा को प्राणाग्निहोत्र यज्ञ करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी का पूरक बताया है। इन गुणों के होने पर पत्नी, जिसका साथ यज्ञ में आवश्यक समझा जाता है, की पूर्ति हो जाती है। अर्थात् पत्नी न भी हो और ये सब गुण जिस व्यक्ति में हों तो उसे प्राणाग्निहोत्र यज्ञ करने में दोष नहीं लगता—

स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंजायाः।

इतना ही नहीं, आगे चलकर इसमें अहिंसा को यज्ञ का इष्ट बताया गया है अर्थात् अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए यज्ञादि किए जाते हैं।

आरुणिकोपनिषद् में बार-बार कहा गया है कि ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य आदि व्रतों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए—

ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरहिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे।
रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति।।

शाण्डिल्योपनिषद् ने तो अहिंसा की गिनती दश यमों में की है, यानि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच ये दश यम हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृति-
मिताहारशौचानि चेति यमा दश।।

उपनिषदों के अनुसार अहिंसा मनुष्य के सदाचार का एक प्रधान अंग है तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाने एवं शांति स्थापना का एक बहुत बड़ा साधन भी है। उपनिषद् मानवीय समानता और एकता को और आगे बढ़ाते हैं और उसे सर्वात्मभाव की पदवी पर आरूढ़ कर देते हैं। वे मानवों तक ही सीमित नहीं रहते अपितु सभी जीव-जन्तुओं और प्राणियों में एकसूत्रता का बोध कराते हुए सर्वात्मभाव के प्रचारक हैं। संदर्भ उल्लेखनीय हैं—

1. तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।
2. ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेव विशन्ति।
3. पश्यः यदा पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
   तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय निरंजनः परं साम्यमुपैति।।

निष्कर्षतः उपनिषद् व्यक्तियों और संगठनों को—''योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'' महावाक्य के पाठ द्वारा सभी में सर्वान्तरभू सूत्रात्मा का बोध कराते हैं, उन्हें—''सह नाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै'' का पवित्र जीवन यापन करने का उपदेश करते हैं तथा ''सर्वं ब्रह्मोपनिषद् माहं ब्रह्म निराकुर्याम्'' मंत्र की सतत उपासना द्वारा उन्हें भिन्नताओं में एकता तथा एकताओं में अभेदता (अभिन्नता) की सिद्धि के लिए प्रेरित करते हैं। निश्चित रूप से उपनिषदों ने भारतीय संस्कृति में अहिंसा एवं शांति की संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

2.4 सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति

पातंजल योगदर्शन में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग माना गया है। (योगश्चित्त निरोधः) यौगिक उद्देश्य की सिद्धि ज्ञान और कर्म दोनों साधनों से हो सकती है। ज्ञान की प्रक्रिया के द्वारा जब साधक प्रकृति और पुरुष दोनों तत्त्वों को अलग-अलग रूप में समझने लगता है, तब उसे योग की सिद्धि कहते हैं। योग की व्यवस्था में समस्त चित्तवृत्तियां शांत हो जाती हैं। परन्तु यथार्थ में हमारा मानसिक विकार शुद्ध नही हो पाता। अतः चित्तशुद्धि के लिए योगदर्शन में अष्टांगिक मार्ग का सहारा लिया गया है, जिन्हें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पांच यमों में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। अन्य यमों में किसी-न-किसी प्रकार अहिंसा सन्निहित है।

परिभाषा और विश्लेषण—योग दर्शन के अनुसार अहिंसा प्राणियों के प्रति सर्वथा और सर्वदा अनभिद्रोह है। 'तत्राहिंसा सर्वदा सर्वदा सर्वभूतानामविद्रोह।' यानि सभी प्राणियों के प्रति सदैव सब प्रकार के कष्ट नहीं पहुंचने का नाम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा है। अहिंसा की यह व्याख्या **''अनभिद्रोह''** के आधार पर की गई है। द्रोह का अर्थ है—दूसरों का अहित चिन्तन, प्रति हिंसा का भाव, बैर, द्वेष, अपराध तथा हिंसा या जान से मारना। अत: दूसरों का अहित न करना उनके प्रति बदला लेने का भाव नहीं रखना शत्रुता, नहीं करना आदि अहिंसा है। भावात्मक रूप से सर्वमंगल, क्षमा, मैत्री, प्रेम, सरलता और करुणा की भावना तथा क्रिया अहिंसा है। अहिंसा की परिभाषा में **''अनभिद्रोहि''** के साथ दो विश्लेषण लगे हुए हैं—''सर्वथा और सर्वदा''। सर्वथा का अर्थ सर्वप्रकार से है। इसका एक अभिप्राय हुआ मनसा, वाचा, कर्मणा सभी प्रकार से दूसरों की हिंसा न की जाए। इसका दूसरा अर्थ है—जीवन के सभी पहलुओं में यथा व्यक्तित्व, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, शैक्षणिक इत्यादि में अहिंसा का पालन किया जाए। यह अभिप्राय वर्तमान जटिल सामाजिक रचना के संदर्भ में विशेष रूप से सार्थक प्रतीत होती है। परन्तु योगसूत्र के संदर्भ और लक्ष्य को सामने रखते हुए ''सर्वथा'' का प्रथम अभिप्राय ही समीचीन मालुम पड़ता है। चूंकि अहिंसा के आचरण का अभिप्राय चित्तशुद्धि से है, अत: स्पष्टत: यह व्यक्तिगत है। यहां समग्र व्यक्तित्व के साथ अहिंसा के पालन पर बल दिया गया है। ''सर्वदा'' कालसूचक पद है। इससे यह सूचित होता है कि अहिंसा कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसका पालन यदा-कदा किसी अपवाद के रूप में किया जाए, अपितु यह सदैव वांछनीय है। अर्थात् अहिंसा की सत्यता सार्वभौम सत्यता है।

अहिंसा के विषय सभी प्राणी हैं, यह ''सर्वभूतानामविद्रोह'' शब्द से सूचित होता है। अत: अहिंसा का आचरण न केवल मनुष्य के लिए निहित है, बल्कि यह अन्य जीवों और वनस्पतियों के लिए भी आवश्यक है। अन्य जीवों और वनस्पतियों की हिंसा हम अपने स्वार्थ, लोभ और मोह के वशीभूत होकर करते हैं। सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्तों के द्वारा हमारी उपर्युक्त प्रवृत्तियों का नियंत्रण होता है। इनके द्वारा दूसरे प्राणियों के अहित करने या विनाश करने पर नियंत्रण लगता है। अत: यह अहिंसा के मार्ग को ही प्रशस्त करते हैं। सर्वभूतों को अहिंसा का विषय मान लेने से दो लाभ हैं। एक तो कहीं और किसी रूप में हमारे चित्त को आंदोलित करने वाली प्रवृत्तियों को पोषण नहीं मिलता है जो योग में सहायक सिद्ध होता है और दूसरा कि इस व्रत के पालन करने से पारिस्थितिक संतुलन बना रहता है। फिर भी कहा जा सकता है कि योग दर्शन का ध्यान प्रथम नाम की ओर ही गया होगा। प्राकृतिक और सामाजिक असंतुलन की समस्या उस समय में नहीं होगी। ये समस्याएं तो बढ़ती हुई आबादी और जटिल भौतिकवादी समाज रचना के दुष्परिणाम है। लेकिन इतना तो स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त आधुनिक समस्याओं के समाधान का बीज मंत्र योग दर्शन अहिंसा में छिपा हुआ है। व्यावहारिकता की दृष्टि से उपर्युक्त अहिंसा की अवधारणा पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है। मनुष्य की नहीं, हर जीवों का अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार से दूसरे जीवों के शोषण और हानि पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में अहिंसा का पालन कैसे संभव है? लगता है कि सभी प्राणियों का अस्तित्व व्यापक रूप से एक दूसरे की हिंसा पर आधारित है।

उपर्युक्त प्रश्न का सम्यक् उत्तर ढूंढने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के नियमों को अलग समझना होगा। सिद्धान्त हमारे मस्तिष्क की उपज होते हैं। जब हमारा मस्तिष्क किसी सिद्धान्त का निर्माण करता है तो वैचारिक शुद्धता और सार्वभौमता तथा व्यापकत्व उसके मुख्य आदर्श होते हैं। जब कोई सिद्धांत व्यवहार का विषय बनता है तब वह साधक के लिए आदर्श का काम करता है। हर साधक की देशकालिक और संस्कारित अलग-अलग भूमिकाएं होती हैं। अत: वह अहिंसा की साधना यात्रा में लग जाता है तब वह अपनी स्थिति के अनुकूल अहिंसा के विषय और तीव्रता का चयन करता है और उसके लिए 'एक कदम ही पर्याप्त है का' तर्कशास्त्र लागू होता है। इसलिए सामान्य लोगों की अहिंसक साधना और योगियों की अहिंसक साधना भिन्न-भिन्न हुआ करती है। देह में जाने वाला व्यक्ति अहिंसा के पालन में अपनी मर्यादा मानव तक ही सीमित रख सकता है। इसी प्रकार स्थूल हिंसा के परित्याग के साथ-साथ वाचिक और भावनात्मक अहिंसा की ओर अग्रसर हो सकता है। मुख्य बिन्दु है अहिंसक भावना के विकास का जो एकाएक उत्पन्न नहीं हो जाता। ''योगी ममुक्षु होते हैं।'' मुमुक्षु शरीर से अलग होना चाहते हैं। इसलिए वे अहिंसा के पालन में पूर्णतया समीप होना चाहते थे। वे दूसरों के अस्तित्त्व के लिए अपना शारीरिक अस्तित्व समाप्त कर सकते हैं। शरीर नहीं बल्कि आत्मा उनका निवास होती है।

योगदर्शन की अहिंसा के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि यह अहिंसा नैतिकता और सामाजिक नहीं बल्कि व्यक्तिगत और रहस्यात्मक अनुभूति जन्य है। किसी मूल्यात्मक अवधारणा का मूल्यांकन तथ्यों की संगति और असंगति से नहीं की जा सकती है। क्योंकि दोनों दो प्रकार की अवधारणाएं हैं। इसका मूल्यांकन तो इस आधार पर किया जाता है कि इसके आंशिक प्रयोग से भी जीवन को उद्धार बनाया जा सकता है या नहीं? योगदर्शन की अहिंसा ऐसी मूल्यात्मक धारणा है जिसके अंशमात्र प्रयोग से भी जीवन को वर्तमान स्थिति से बहुत ऊपर उठाया जा सकता है इसलिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्तित्व परक जीवन की दृष्टि से भी इसकी सार्थकता कम नहीं है। वास्तव योग दर्शन की अहिंसा का सच्चा मूल्यांकन तो तब होगा जब हम इस अवधारणा की संगति या असंगति इसके लक्ष्य के साथ स्थापित कर देंगे। अर्थात् हम यह सिद्ध कर दें कि यह अवधारणा वांछित तथ्यों के अनुकूल है या प्रतिकूल। स्पष्टत: अहिंसा का यहां लक्ष्य योग सिद्धि है और योगसिद्धि में अहिंसा ही सहायक हो सकती है न कि हिंसा। हिंसा और योग दोनों एक दूसरे के विरोधी पद हैं इसलिए जिस अहिंसा का चित्रण योग के दार्शनिक ने किया है वह उनके अनुकूल है। महर्षि पतंजलि की अहिंसा अभिष्ट व्यावहारिक जीवन की सफलता-विफलता नहीं। उनका एकमात्र अभिष्ट है योग सिद्धि। इसलिए जीवन के अन्य प्रश्नों के आधार पर इसकी आलोचना नहीं कर सकते। योग का अर्थ है—वास्तविकता जैसी भी है उसे उसी रूप में साक्षात्कार करना। योग एक विशुद्ध विज्ञान है, जैसे विज्ञान निष्कर्ष देता है, वैसे योग अनुभव आन्तरिक प्रयोग का अनुशासन, अपने भीतर की व्यवस्था का निर्माण है।

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर अहिंसक योगी के निकट सब प्राणियों का वैर छूट जाता है। जब योगी की अहिंसा पालन में दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके अहिंसक प्रभाव से उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियों की भी वृत्ति अहिंसक हो जाती है। अहिंसानिष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करने से उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। उसके अन्त:करण से अहिंसा की सात्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेग से बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसिक हिंसक भी उससे प्रभावित होकर तामसिक हिंसक वृत्ति को त्याग देते हैं। इस प्रकार योग दर्शन की अहिंसा वैयक्तिक होते हुए भी समाज परिवर्तन के तत्त्वों से भी संपुष्ट है। इसमें यह अपवाद नहीं होता कि आवश्यकता हुई तब हिंसा कर ली और अवशेष समय में अहिंसा का बाना पहने रहो। योगियों के लिए अहिंसादि का सार्वभौम महाव्रत आचरणीय है। प्रथमत: वे मनुष्य जाति की, यहां तक कि आततायी की भी हिंसा नहीं करते तथा जानवर के प्रति भी यथासंभव अहिंसा का पालन करते हैं। पृथ्वी कायिक जीव, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा नहीं करते। अहिंसा को परिपुष्ट करने के साधन हैं—सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पतंजलि ने कहा—''सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'' जिस योगी की सत्य में दृढ़ स्थिति हो गयी है, उसकी वाणी में कभी असत्य नहीं निकलेगा क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता हो जाता है। अचौर्य को परिभाषित करते हुए कहा है—''अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'' जिसने राग को पूर्णतया त्याग दिया है, वह सब प्रकार की संपत्ति का स्वामी है, उसको किसी भी चीज की कमी नहीं रहती। जब अचौर्य भाव वृद्धिगत होता है तब ब्रह्मचर्य की सिद्धि प्राप्त होती है। ''ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:'' ब्रह्मचर्य की साधना से शक्ति का विकास होता है। जब शक्ति का विकास होता है तब अपरिग्रह की क्षमता का प्रादुर्भाव होता है। ''अपरिग्रह जन्मकथन्तासम्बोध:'' योगी के लिए सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या, रागादि क्लेश और शरीर में अहं तत्व और ममत्व है। इनके त्याग से उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इससे उसको भूत और भविष्य का ज्ञान हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पतंजलि ने अहिंसा का उपदेश आध्यात्मिक ऊंचाइयों को प्राप्त करने के लिए दिया था। ऐसा लगता है उनके सामने अन्यान्य आधुनिक समस्याएं नहीं थी, फिर भी उनकी अहिंसा में पर्यावरण संरक्षण एवं सामाजिक उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने की क्षमता सन्निहित है।

अहिंसा की ऐसी अवधारणा व्यावहारिक धरातल में अनेकानेक प्रश्नायित दृष्टियों की सर्जना कर सकती है। क्योंकि मनुष्य से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी का अस्तित्व भी एक दूसरे के शोषण पर टिका हुआ है। ''जीवोजीवस्य भक्षणम्'' इस उक्ति के आधार पर ही प्राणी मात्र का जीवन संचालित होता है। जब जीव मात्र का अस्तित्व हिंसा की नींव पर पनप रहा है तब हमें और गहराई से चिंतन करना होगा कि अहिंसा के सैद्धान्तिक स्वरूप और प्रायोगिकता में क्या भिन्नता है। इन दोनों के नियमों को अलग-अलग समझना होगा। जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है कि सिद्धान्त हमारे मस्तिष्क की चिंतन शक्ति से जन्म पाते हैं। जब मस्तिष्क किसी सिद्धान्त की संरचना करता है तो वैचारिक विशुद्धता विलक्षण लक्षणों से आप्यायित, सार्वभौम अस्तित्व, विराट व्यापकत्व आदि उसके मुख्य आदर्श होते हैं। जब आदर्श से परिपूर्ण सिद्धान्त व्यवहार का विषय बनता है तब वह साधक के लिए सचमुच आदर्श बन जाता है। विभिन्न परिस्थितियों के उपरान्त भी दृढ़ संकल्पी साधक दृढ़ संकल्प के साथ अहिंसा पथ की यात्रा पर अग्रसर होता है तो साधना की आंच में संतप्त होकर अहिंसा और अधिक निखार को प्राप्त करती है। अहिंसक योगी क्रमश: मृदु, मृदुतर और मृदुतम अहिंसा पर आरूढ़ हाता है। वह सबसे पहले स्थूल एवं सूक्ष्म प्राणियों के हनन का परित्याग करता है, फिर मांसाहार का परित्याग करता है। मानव देह में रहते हुए भी वह अहिंसा की पराकाष्ठा को पाने के लिए अन्न का भी परित्याग कर देता है तथा केवल फलाहार से जीवन यापन करता है। जीवन में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा का अवतरण एकाएक नहीं होता, अपितु क्रमिक साधना के विकास से अहिंसा का विकास होता है। इसीलिए योगी क्रमशः जाति, देश, काल से वाचिक, मानसिक और भावनात्मक अहिंसा पर आरोहण करता है। इस प्रकार अविच्छिन्न होकर मुमुक्षु भाव से परिपूर्ण योगी अहिंसा धर्म को प्रवर्द्धित करने के पश्चात योग सिद्धि द्वारा देह धारण से नित्य विमुक्त होकर सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक होते हैं। योगी की महानता अमाप्य होती है, इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।। VI-46

योगी तपस्वियों में श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकाण्डियों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन। पतंजलि ने कहा—अहिंसक योगी निर्विचार समाधि की विशारदता प्राप्त होने पर एक ही काल में सर्व पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान का ज्ञाता हो जाता है। जब हम अहिंसा को पूर्ण साध्य मान लेते हैं तब व्यावहारिक जगत् में हलचल हो जाती है। भ्रांति के वशीभूत होकर हम समझने लगते हैं कि अहिंसा किसी निर्जीव वस्त्र के समान है जिसे पूर्णरूप से शरीर में ओढ़ा जा सकता है। वस्तुतः यह एक जीवन्त और गतिशील धारणा है जिसकी अनुभूति आंशिक रूप से ही की जा सकती है, धारणा भले ही अपने आप में पूर्ण हो। शायद इसीलिए गांधी ने कहा था कि इस पार्थिव शरीर से पूर्ण सत्य और अहिंसा का पालन करना संभव नहीं। अहिंसक व्यवहार का तर्कशास्त्र—''लूंगा तो सब, नहीं तो कुछ नहीं'' का नहीं है। इसीलिए योग दर्शन की अहिंसा की अवधारणा व्यावहारिक जीवन का बिरोध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि किसी मूल्यात्मक अवधारणा का मूल्यांकन तथ्यों की संगति और असंगति से नहीं की जा सकती, क्योंकि दोनों दो प्रकार की अवधारणाएं हैं। इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जा सकता है कि इसके आंशिक प्रयोग से भी क्या जीवन को उदात्त बनाया जा सकता है? इसका उत्तर सकारात्मक होगा, क्योंकि योगदर्शन की अहिंसा का अंशमात्र पालन करने से भी जीवन को वर्तमान स्थिति से काफी ऊपर उठाया जा सकता है। इसलिए अस्तित्वपरक जीवन की दृष्टि से इसका महत्व कम नहीं है। तृतीयतः योग दर्शन की अहिंसा का सच्चा मूल्यांकन तो तब होगा जब हम इस अवधारणा की संगति या असंगति इसके लक्ष्य के साथ स्थापित कर दें। अर्थात् हम यह सिद्ध कर दें कि यह अवधारणा वांछित लक्ष्य के अनुकूल है या प्रतिकूल। यहां पर अहिंसा का लक्ष्य योग सिद्धि ही है। क्योंकि अहिंसा ही योगसिद्धि में सहायक हो सकती है, न कि हिंसा। हिंसा योग सिद्धि में बाधक तत्व है।पतंजलि ने भी कहा है— ''व्याधि ा-स्त्यान-संशय-प्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदशना- लब्धभमकत्वानवस्थितत्वानि चितविक्षेपास्तेडन्तराया'' व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकता और अनवस्थिरता—ये नौ चितविक्षेप है, योग के अन्तराय होते हैं। इनमें प्रचुर मात्रा में हिंसा ही सन्निहित है। अन्यान्य प्रश्नों के उत्तर में योग दर्शन चाहे सफल न भी हो पर तात्विक दृष्टि से योग दर्शन की अहिंसा अपने लक्ष्य के पूर्ण अनुरूप है। जैसे विज्ञान के विद्यार्थी को इतिहास का ज्ञान चाहे न हो पर विज्ञान के ज्ञान में दक्ष है तो उसकी वैज्ञानिक विद्वता ही कही जाएगी। वैसे ही योग दर्शन की अहिंसा अन्यान्य गुत्थियों को सुलझाने में सफल न भी हो तो भी उसको विफल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, यही एक मात्र अभीष्ट है और अहिंसा इस ध्येय को प्राप्त करने में पूर्ण सक्षम है तो अन्य संदर्भों में हम इसकी आलोचना नहीं कर सकते। योग दर्शन की अहिंसा के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि यह व्यक्तिगत और आध्यात्मिक है। इसका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से नहीं है अतः इसे नैतिक-अनैतिक पदों के आधार पर नहीं समझा जा सकता। यहां यह तो स्पष्ट है कि योग दर्शन का मोक्ष व्यक्तिगत मोक्ष है। इसलिए अहिंसा व्यक्तिगत मोक्ष के साधक होने के कारण व्यक्तिगत हो जाती है। परन्तु इस आधार पर यह कहना न्यायोचित प्रतीत नहीं होता कि यह सामाजिक और नैतिक नहीं है।

अहिंसा के साधक की साधना की दृष्टि व्यक्तिगत है। कोई भी समाज हिंसा, द्वेष, अहित, विनाश और दुर्भावना के आधार पर टिका नहीं रह सकता। उसे अहिंसा के ठोस आधार की आवश्यकता पड़ती है। योग दर्शन की अहिंसा व्यक्तिगत योग को तो सिद्ध करती ही है, स्वस्थ समाज के लिए ठोस आधारशिला भी प्रदान करती है। इसे नैतिकता कहा जा सकता है या नहीं यह प्रश्न भी विचारणीय है। यदि नैतिक का अर्थ वैसे कर्मों से है जो साक्षात रूप से सामाजिक व्यवहारों को नियंत्रित करें तो इस अर्थ में योग दर्शन की अहिंसा नैतिक नहीं कही जा सकती, परन्तु यदि नैतिक का केवल इतना ही अर्थ मान लिया जाए कि वह धर्म से उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ के सांचे में डाला जाए तो योग दर्शन की अहिंसा नैतिक है। यहां प्रश्न केवल व्यक्ति, समाज या अध्यात्म की दृष्टि से शुभ-अशुभ होने का है। वास्तव में योग दर्शन की अहिंसा का ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

येय वैयक्तिक होते हुए भी सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है। वर्तमान की सामयिक जटिल समस्याओं के संदर्भ में भी हम इसका मूल्यांकन कर सकते हैं। जैसे आतंकवाद आज सम्पूर्ण विश्व की आम समस्या बन चुकी है। जब हम आतंकवाद के प्रारम्भ पर चिंतन करते हैं तब प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह एक छोटी-सी चिनगारी थी और चिनगारी से आग भभकते-भभकते सम्पूर्ण विश्व को अपनी चपेट में ले लिया। वैसे ही योग दर्शन के योगी में नैतिकता का उत्कर्ष रूप विद्यमान होता है और सम्पूर्ण विश्व उसमें अभिस्नात होकर अनिर्वचनीय तृप्ति का अनुभव कर सकता है। डॉ. सुशील कुमार मित्रा ने अपनी पुस्तक ''हिन्दु आचार शास्त्र'' में नैतिक प्रश्नों को तीन कोटि में रखा है—व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता। योग दर्शन की अहिंसा को सामाजिक नैतिकता, वैयक्तिक नैतिकता और पारमार्थिक नैतिकता—तीनों ही कोटियों में रख सकते हैं। क्योंकि अहिंसा से योग सिद्धि व्यक्तिगत लक्ष्य को पूरा करता है। अत: यहां यह व्यक्तिगत है। अहिंसा से समाज की विकृतियों का परिष्कार होकर विशुद्ध-मैत्री, प्रमोद और करुणा से आप्लावित विचार प्रवाहित होते हैं। यह इसका सामाजिक स्वरूप है और पारमार्थिक दृष्टि से मोक्ष की सिद्धि होती है। यदि सांख्य योगदर्शन की अहिंसा का प्रायोगिक रूप सजीव होता है तो संभवत: तीन भागों में अहिंसा के नैतिक रूप को बांटने की आवश्यकता नहीं रहती। आज युग की पुकार है अहिंसा पुन: अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो। क्योंकि अहिंसा अपने आपमें पूर्ण है, सर्वांगीण है। ''सर्वप्राणिना भवति'' प्राणिमात्र का हित उसमें सन्निहित है।

2.5 सारांश

अत: अपेक्षित है कि सांख्य योग दर्शन की अहिंसा का स्वरूप सैद्धान्तिक तुला से उतरकर जन-जन के जीवन का प्रायोगिक श्रृंगार बने।

2.6 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न—

1. श्रमण संस्कृति की कितनी उपधाराएँ हैं—
   (अ) तीन (ब) दो (स) पाँच ( )
2. वेद कितने हैं—
   (अ) तीन (ब) चार (स) पाँच ( )
3. 'हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर' किसका ग्रन्थ है—
   (अ) टालस्टाय (ब) मैक्समूलर (स) टायनबी ( )
4. अहिंसा का सर्वप्रथम किस उपनिषद् में उल्लेख हआ है—
   (अ) तैत्तरीय उपनिषद् (ब) छांदोग्य (स) केन ( )
5. 'चित्तवृत्तियों का निरोध योग है।' किस दर्शन में माना गया है?—
   (अ) बौद्ध दर्शन (ब) पातंजल योग दर्शन (स) चार्वाक दर्शन ( )

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न—

1. वेदों का परिचय देते हुए उसके रचना काल का वर्णन करें।
2. वेदों में वर्णित अहिंसा संबंधी विचार लिखें।
3. उपनिषद् के अर्थ को स्पष्ट करें।
4. सांख्य योग में अहिंसा को कैसे परिभाषित किया गया है?

(स) निबंधात्मक प्रश्न—

1. उपनिषद् में अहिंसा एवं शांति चिन्तन को स्पष्ट करें।
2. सांख्य योग में किन सन्दर्भों में अहिंसा एवं शांति की चर्चा की गई है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : महाभारत एवं गीता–प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति, निष्काम कर्म, समत्व योग, दण्ड एवं अहिंसा

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 महाभारत
  3.2.1 महाभारत में अहिंसा
3.3 भगवद् गीता
  3.3.1 गीता में अहिंसा
  3.3.2 प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति
  3.3.3 निष्काम कर्म
    3.3.3.1 कर्म का अर्थ
    3.3.3.2 कर्म की अनिवार्यता
    3.3.3.3 सकाम और निष्काम कर्म
  3.3.4 लोक संग्रह
  3.3.5 नियत स्वधर्म पालन भाव
  3.3.6 कर्म, अकर्म और विकर्म
  3.3.7 स्थितप्रज्ञता
  3.3.8 ईश्वरार्पण भाव
  3.3.9 समत्व योग
  3.3.10 दण्ड एवं अहिंसा
  3.3.11 दण्ड के सिद्धान्त
    3.3.11.1 प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त
    3.3.11.2 प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त
    3.3.11.3 निरोधात्मक सिद्धान्त
    3.3.11.4 सुधारात्मक सिद्धान्त
3.4 भारत में दण्ड का इतिहास
  3.4.1 वैदिक युग
  3.4.2 पूर्व–बौद्धिक युग
  3.4.3 स्मृति–युग
  3.4.4 अन्य भारतीय मत
  3.4.5 कौटिल्य का चिन्तन
  3.4.6 अशोक
  3.4.7 दण्ड संबंधी दृष्टिकोण : महाभारत
3.5 सारांश
3.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.0 प्रस्तावना

महाभारत एवं गीता ने न केवल इस उपमहाद्वीप के दार्शनिक संस्कृति को प्रभावित किया, अपितु इसमें समाहित व्यापक दर्शन ने पाश्चात्य जगत को भी आकर्षित किया है। गीता महाभारत के 18 पर्वों में से 'भीष्म पर्व' में समाहित होती है। महाभारत एवं गीता में संसार एवं मोक्ष दोनों प्रकार के धर्मों को विस्तृत व्याख्या की गई है।

3.1 उद्देश्य

इस पाठ के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा—

(अ) भगवद्गीता : परिचय, गीता में अहिंसा

(ब) महाभारत : परिचय, महाभारत में अहिंसा चिन्तन

(स) प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति, निष्काम कर्म, कर्म का अर्थ, सकाम और निष्काम कर्म, समत्व योग

(द) दण्ड एवं अहिंसा—दण्ड के सिद्धान्त, भारत में दण्ड का इतिहास, कौटिल्य का चिन्तन, अशोक दण्ड संबंधी दृष्टिकोण : महाभारत

3.2 महाभारत

महाभारत में वर्णित सामाजिक सिद्धान्तों एवं संस्थाओं के सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि उनका सम्बन्ध किस काल से है? इस प्रश्न का प्रत्यक्ष सम्बन्ध महाभारत के रचनाकाल से है। यह एक बहुत ही विवादास्पद विषय है कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई? यद्यपि महाभारत में यह उल्लिखित है कि भारत-युद्ध के उपरान्त व्यास ने इसकी रचना तीन वर्षों में की थी, परन्तु इसके आलोचनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि वर्तमान महाभारत न तो एक व्यक्ति की रचना है और न किसी एक काल की। विभिन्न व्यक्तियों ने, जो कई विचारधाराओं के थे, विभिन्न युगों में इसकी रचना की है। इसका प्रथम नाम 'जयकाव्य' था एवं इसमें कौरवों-पाण्डवों तथा अन्य क्षत्रियों का इतिहास वर्णित था। प्रारम्भ में इसमें केवल चौबीस हजार श्लोक थे। अवान्तरकाल में इसका नाम 'शतसाहस्री' संहिता पड़ा, क्योंकि इसमें श्लोकों की संख्या बढ़कर एक लाख हो गई। महाभारत के वर्तमान आलोचनात्मक संस्करण में भी, जो अठारह पर्वों में विभक्त है, 82,136 श्लोक हैं। विदित होता है कि अपनी रचना के उपरान्त 'जयकाव्य' या 'भारत' विभिन्न कवियों द्वारा परिवर्द्धित किया गया एवं अपने मूल रूप से यह तिगुने से भी अधिक हो गया।

प्रश्न होता है कि किन मौलिक कारणों से 'भारत' 'महाभारत' के रूप में परिवर्द्धित हुआ? अध्ययन से विदित होता है कि इसके कई कारण थे। मूल रूप से 'महाभारत' की रचना कौरव-पाण्डवों एवं महान् क्षत्रियों के यश के विस्तार के लिए की गई थी। विभिन्न क्षत्रियों के गौरवपूर्ण आख्यानों को भी इसमें समाविष्ट करने की सम्भावना थी, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन लोगों से नहीं था। इस प्रकार, बहुत-से उपाख्यान जो स्वतंत्र रूप से प्रचलित थे, उन्हें भी उसमें समाविष्ट किया गया। यह केवल एक शुद्ध काव्यमात्र नहीं रहा, वरन् इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया एवं इसमें सभी विषयों का समावेश हुआ। 'भारत' का महाभारत के रूप में परिवर्द्धन का एक मुख्य कारण यह था कि युद्ध-काव्य होने के कारण मुख्य रूप से इसका संरक्षण एवं प्रचार सूतों एवं मागधों के द्वारा हुआ, जो मौखिक रूप से उसको याद रखते थे। उन लोगों ने भी बहुत-से सम्बद्ध आख्यानों को अन्य आख्यानों के साथ मिला दिया, फलतः इसके कलेवर में वृद्धि हुई। वैदिक संहिताओं को भी मौलिक रूप से याद रखा जाता था, परन्तु उनके पाठ की शुद्धता के लिए जिस प्रकार के उपाय किये गये थे, वैसे उपाय 'भारत' के पाठ की शुद्धता के लिए नही किये गये थे। 'महाभारत' ग्रंथ को पुस्तक रूप में लिखने वाले भी इसके कलेवर के परिवर्द्धन में सहयोगी थे। उन लोगों ने मौलिक श्लोकों को तो लिखा ही, साथ ही साथ विभिन्न प्रतियों में प्रक्षिप्त आख्यानों को भी अपनी प्रतियों में संयुक्त कर लिये। इस प्रकार, समय-समय पर 'महाभारत' में वृद्धि होती गई।

यदि हम 'महाभारत' की रचना, महाभारत युद्ध के शीघ्र बाद, व्यास द्वारा मानें तो यह तिथि अत्यन्त प्राचीन हो जाती है। स्वयं महाभारत के युद्ध का काल अभी तक अनिर्णीत है एवं विभिन्न विद्वानों ने इसकी तिथि विभिन्न प्रकारों से निर्धारित की है। इसकी तिथि 950ई. पूर्व से 3137ई. पूर्व तक मानी जाती है। इस तिथि को ठीक मानने में कई ऐतिहासिक समस्याएँ हैं। महाभारत के वर्तमान संस्करण में जिस भाषा का प्रयोग है, वह उतनी प्राचीन नहीं है। अतः इसका रचनाकाल 900ई. पूर्व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तक भी नहीं ले जाया जा सकता है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने बहुत-से आधारों पर महाभारत ग्रंथ के रचनाकाल के निर्धारण के प्रयत्न किये हैं, जिनमें क्रिश्चियन लैसेन, वेवर हुल्जमैन, बुहलर, हौपकिन्स, विन्टरनिज इत्यादि मुख्य हैं। इन विद्वानों ने महाभारत की रचना का काल 5वीं शती ई. पूर्व से लेकर ईसा की 4वीं-5वीं सदियों के मध्य माना है। पुरातत्व के आधार पर भी महाभारत युद्ध की तिथि निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। महाभारत से सम्बद्ध जिन स्थानों के उत्खनन किये गये हैं, उनके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि हस्तिनापुर का विनाश गंगा की बाढ़ से 9वीं या 10वीं सदी ई. पूर्व में हुआ था। कुछ अन्य पुरातत्वविदों का मत है कि महाभारत के युद्ध का समय ई. पूर्व की 9वीं सदी है। महाभारत की रचना-तिथि को निर्धारित करने के लिए हमें उसके आन्तरिक तथ्यों के ऐतिहासिक विश्लेषण पर निर्भर करना पड़ेगा, साथ ही साथ, बाह्य साक्ष्यों से भी उनकी सम्पुष्टि करनी होगी।

महाभारत के अन्त:साक्ष्यों के सम्बन्ध में भी कई बातों को आधार बनाया जा सकता है, इसमें वर्णित विदेशी जातियों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमें यह विदित है कि वे भारत में कब आईं, उनके विस्तार का क्षेत्र क्या था, उनका शासन कब तक रहा एवं किस प्रकार वे भारतीय समाज में मिल गईं। इस सम्बन्ध में यवन, शक, तुषार, हूण एवं आभीर आदि लोगों के उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये जातियां भारत में ई. पूर्व 4वीं सदी से लेकर ईसा की 5वीं सदी तक आती रहीं। अत: महाभारत में उनके उल्लेख से विदित होता है कि इस ग्रंथ की प्राचीनता इतने समय तक अवश्य हो सकती है। महाभारत में उपलब्ध ज्योतिष सम्बन्धी कुछ बातों, सिक्कों के सम्बन्ध में उल्लेख, आभूषणों एवं वास्तुकला के सम्बन्ध में वर्णन, धनुषधारी अश्वारोहियों के उल्लेख, गणराज्यों का वर्णन एवं इस ग्रंथ (महाभारत) की भाषा के अध्ययन से विदित होता है कि यह ई. पूर्व की 4वीं सदी से लेकर ई.पू. की 5वीं सदी तक परिवर्द्धित होता रहा। अत: यदि हम 'महाभारत' के रचनाकाल का आरम्भ 7वीं या 6वीं ई.पू. में मानें तो यह आपत्तिजनक बात न होगी क्योंकि 5वीं सदी ई.पू. में हम इसके दो संस्करणों को पाते हैं। इसमें इतने परिवर्तन और परिवर्द्धन हुए कि वर्त्तमान संस्करण को उतना प्राचीन नहीं माना जा सकता है और इसकी निम्नतम अवधि 4वीं या 5वीं सदी तक लाई जा सकती है।

3.2.1 महाभारत में अहिंसा

महाभारत वेदव्यास की अद्‌भुत कृति है। जिसमें पांडव-कौरवों की कथा के माध्यम से मानव-जीवन की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। इसमें यत्र-तत्र अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा की विराट भावना का महत्त्व बताते हुए वेदव्यास ने कहा धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थों से अहिंसा उच्च कोटि की है। इस प्रकार महाभारत में अहिंसा धर्म का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। व्यास ने एक स्वर में अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है।

अहिंसा परमो धर्म: के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रखकर इसमें भी अहिंसा की विवेचना की गई है। उल्लेख आता है कि अहिंसा ही सबसे उत्तम एवं पावन धर्म है, अत: मनुष्य को कभी भी, कहीं भी और किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए करना भी उपयुक्त नहीं है। इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुंचाओ। बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। जो मन, वाणी, क्रिया तथा अन्य कारणों द्वारा किसी भी प्राणी की जीविका का अपहरण करके उसकी हिंसा नहीं करता, उसको दूसरे प्राणी भी वध या बन्धन में नहीं डालते। अर्थात् अहिंसामय जीवन जीने वाला व्यक्ति स्वयं शांति एवं सुख का अनुभव करता है और दूसरे को भी सुख पहुंचाता है। विश्व शांति के लिए यह आवश्यक है कि पहले व्यक्ति स्वयं अहिंसक बने, निर्भय बने तो वह दूसरे को भी अहिंसक एवं अभय बना सकता है। अनुशासन पर्व में अहिंसा को नैतिक या धार्मिक दृष्टि से बहुत ही ऊंचा स्थान दिया गया है। यहां कहा भी गया है—अहिंसा परम-धर्म, परम-तप, परम-सत्य और अन्य धर्मों की उद्‌गम स्थली है। यह परम संयम है, परम-दान, परम-ज्ञान, परम-फल, परम-मित्र तथा परम-सुख है। अत: जो अहिंसा के पथ पर चलता है उसकी तपस्या अक्षय होती है। इसीलिए जो लोग बुद्धिमान और पुण्यशाली हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें। इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दयाभाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरों पर भी दया करे। दयालु आत्मा ही सभी प्राणियों को अभयदान देता है और उसे भी सभी अभयदान देते हैं। अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महाभारत में उत्पन्न नीति संबंधी अनेक शंकाओं के उत्तर में भीष्म ने कहा कि आचार ही धर्म का मुख्य आधार है। सत्य बोलना धर्म है, चोरी न करना धर्म है, दान देना धर्म है, हिंसा न करना धर्म है। विद्वान् कहते हैं कि जो कर्म सबको प्रीतिकर और अहिंसा से युक्त होता है वह वस्तुतः धर्मरूप है। जो पुरुष जीवित रहने की इच्छा रखता है वह अन्य का घात करने के लिए क्यों उद्यत हो? इस तरह करीब 30 श्लोकों में धर्म का स्वरूप दिखाया गया है। इससे पता चलता है कि अहिंसामय आचरण धर्म है। अहिंसा को परम धर्म माना गया है क्योंकि सत्य, चोरी आदि की अपेक्षा अहिंसा ही जीवित रहने में अधिक उपयोगी होती है। अतएव शांति पर्व में कहा गया है—

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत्, तत्परस्यापि चिन्तयेत्।।

इस पद्य से अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट होता है। युधिष्ठर और भीष्म के बीच जो वार्तालाप होता है उसमें अहिंसा को सकल हितकारक धर्म भी माना गया है। 'महाभारत' में ऐसा भी कहा गया है कि **यः स्यात् अहिंसा संयुक्तः स धर्मः इति निश्चयः।** अर्थात् जो अहिंसायुक्त है वही धर्म है, ऐसा निश्चित है।

जिस ग्रंथ में अहिंसा के बारे में इतना सूक्ष्म विवरण मिलता है उसमें मांसभक्षण का निषेध भी किया गया है, यह बात सर्वथा समुचित है। अनुशासन पर्व में उल्लेख आता है कि जो हिंसा का त्याग करता है वह रूप, आयुष्य, बुद्धि, सत्य, बल, स्मरण-शक्ति प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मद्य और मांस का सर्वथा त्याग करता है उसकी प्रशंसा राजर्षि आदि ऋषिगण करते हैं। जो व्यक्ति मांस का भक्षण नहीं करता है और अन्य के द्वारा हिंसा नहीं करवाता है वह प्राणियों का मित्र बनता है। ऐसा स्वयंभू मनु का वचन है। मांस भक्षण त्यागने वालों का कभी पराभव नहीं होता है और सज्जनों में वह मान्य होता है। मदिरा और मांस का त्याग करके मानव दान, यज्ञ और तपश्चर्या का फल प्राप्त कर सकता है। जो विद्वान् प्राणीमात्र को अभय दान देता है वह प्राणदाता कहलाता है। मांस भक्षण का त्याग धर्म, स्वर्ग और सुख प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। कहा भी है—

अहिंसा परमो यज्ञ-स्तथाऽहिंसा परमं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रम्, अहिंसा परमं सुखम्।।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि अहिंसा एवं इसके समानवर्ती मूल्य महाभारत काल में काफी प्रतिष्ठित थे।

3.3 भगवद्गीता

श्रीमद्भागवतगीता महाभारत में ''भीष्मपर्व'' का एक अंश है। भारतवर्ष के दार्शनिक-धार्मिक साहित्य में भगवद्गीता का स्थान विशिष्ट है। कहा गया है कि भगवद्गीता में उपनिषद्-रूपी गउओं का दुग्ध श्रीकृष्ण द्वारा दुहकर एकत्र कर दिया गया है। परम्परा के अनुसार उपनिषद् साहित्य श्रुति है और भगवद्गीता स्मृति। धार्मिक परम्परा में श्रुति का वही स्थान है जो लौकक ज्ञान में प्रत्यक्ष का। गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। यह प्रत्येक देश-काल, जाति-धर्म के मनुष्यों के लिए ग्राह्य है। आज का मानव भौतिक भोग लिप्साओं में भटकता हुआ अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। इस भटकती हुई मानवता को कर्त्तव्य कर्मों को करते रहने और उनके फलों के प्रति अनासक्त भाव रखने, निष्काम कर्म की सतत् साधना करने की दृष्टि गीता के उपदेश से ही उपलब्ध हो सकेगी। ऐसी दृष्टि मनुष्य के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगी। कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता, अतः कर्म के विमुख होने की अपेक्षा कर्म-फल से विमुख होना ही गीता द्वारा श्रेयस्कर माना गया है।

गीता का उपेदश एक तीखे नैतिक अन्तर्द्वन्द्व के अवसर पर दिया गया था। उसके उपदेश की नाटकीय परिस्थिति उसे प्रत्येक ईमानदार अन्वेषक और जिज्ञासु के लिए महत्त्वपूर्ण एवं पठनीय बना देती है। गीता की शिक्षा में एक उदार समन्वय की भावना है, उसमें प्रायः किसी भी धर्म को मानने वालों के लिए रोचक एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री मिल सकती है। गीता में साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति नहीं पायी जाती, इसलिए भी वह सब प्रकार के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती है। तुलनात्मक धर्म के प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् जेनर ने भगवद्गीता के सन्देश एवं स्वर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्वयं भारतवर्ष के प्रचुर धार्मिक साहित्य में भी भगवद्गीता का स्थान अद्वितीय है। वास्तव में यदि किसी एक ग्रंथ को हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि ग्रन्थ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहा जा सकता है तो वह भगवद्गीता ही है। सम्भवत: गीता एकमात्र ग्रन्थ है, जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ लौकिक कर्ममय जीवन को उचित महत्त्व दिया गया है। भारतीय धार्मिक-दार्शनिक साहित्य में गीता के अतिरिक्त महत्त्व का एक प्रमुख कारण उसकी समन्वय-दृष्टि है। इस समन्वय-दृष्टि का ऐतिहासिक कारण और महत्त्व है। उपनिषद् युग के बाद की शताब्दियों पर नजर डालने से जान पड़ता है मानो उस समय के भारत में तरह-तरह के वादों एवं सिद्धांतों की बाढ़-सी आ गई थी। सिद्धान्तों की विविधता परम्परा के समर्थकों और उसके समीक्षकों दोनों तरफ के विचारकों में पाई जाती थी। गीता साध्य प्राप्ति के किसी भी मार्ग का तिरस्कार नहीं करती। इसके विपरीत इसमें सभी मार्गों की प्रशंसा की गई है किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है। फलत: हर मार्ग के साथ गीता कर्मयोग को जोड़ देती है।

3.3.1 गीता में अहिंसा

कुरुक्षेत्र के मैदान में वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उद्बोधन दिया वहीं प्रेरणादायी संदेश गीता में है। ज्ञान, भक्ति और कर्म-मार्ग का सुन्दर विवेचन इस ग्रंथ-रत्न में हुआ है। कर्म-मार्ग का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—तप के विभिन्न प्रकार हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि ये सात्विक तप हैं। इसके विपरीत हिंसायुक्त प्रवृत्ति तामसी और राजसी हैं। भगवद्गीता की दृष्टि में अहिंसा वह कर्म है जिसके करने से व्यक्ति को किसी प्रकार का भय, उद्वेग नहीं होता, जबकि हिंसा वह कर्म है जिसके करने से व्यक्ति में प्रतिपल भय तथा उद्वेग होता है। इसी विचार से भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से गीता के बारहवें अध्याय में कहते हैं कि जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और स्वयं भी जो किसी जीव से उद्वेग प्राप्त नहीं करता तथा जो हर्ष, अमर्ष (दूसरे की उन्नति देखकर सन्तप्त होना), भय और उद्वेगादिकों से रहित है वह भक्त मेरे को प्रिय है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य:।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य: स च मे प्रिय:।।

भगवद्गीता सात्विक तप पर बल देती है। त्रिविध तपों में अहिंसा शारीरिक तप है। गीता की मान्यता है कि यज्ञ, दान और तप रूप कार्य त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु वह कर्म नि:संदेह करणीय है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही फलासक्ति-रहित बुद्धिमान पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर संबंधी तप कहा जाता है। जो उद्वेग को उत्पन्न न करने वाला प्रिय और हितकारी एवं यथार्थ भाषण है और जो वेद-शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम अपने का अभ्यास है वह नि:संदेह वाणी संबंधी तप कहा जाता है। मन की प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवतचिंतन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्त:करण की पवित्रता—यह मन सम्बंधी तप कहा जाता है। फल को न चाहने वाला निष्काम योगी पुरुष द्वारा परम श्रद्धा के किये गये ये तीनों तप सात्विक तप कहलाते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तात्त्रिविधं नरै:।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तै: सात्विकं परिचक्षते।। XVII-17

सात्विक, राजस् और तामस्—इन त्रिविध कर्मों में हिंसा तामस् कर्म के अन्तर्गत आती है। जो कर्म शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ और कत्तार्पन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष के द्वारा राग-द्वेष से किया हुआ है वह सात्विक कर्म कहलाता है। जो कर्म अत्यधिक परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाले और अहंकार युक्त पुरुष के द्वारा किया जाता है वह राजस कर्म कहलाता है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है वह तामस कर्म कहलाता है।

गीता सम्पर्ण भूतों में आत्मरूप ब्रह्म (वासुदेव) को देखने का उपदेश देती है। भगवान श्रीकृष्ण छठे अध्याय में अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सब में जल के सदृश व्यापक देखता है और वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता है। जो एकीभाव में स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित मुझे सच्चिदानन्दघन वासुदेव को भजता है वह योगी सब प्रकार से रहता हुआ भी मेरे में ही है। हे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्जुन! जो योगी अपनी सदृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है और सुख अथवा दु:ख को भी सब में सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मतः।।

गीता के अनुसार संसार में इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए सुख-दु:खादि द्वन्द्व रूप मोह से सब प्राणी अति अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं। जैसे आकाश से उत्पन्न सर्वत्र विचरण करने वाली महान वायु सदा ही आकाश में स्थित है वैसे ही भगवान् के संकल्प के द्वारा उत्पत्ति होने वाले से सम्पूर्ण भूत भगवान में ही स्थित हैं। कल्प के अंत में समस्त भूत भगवत्प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में उन भूतों को भगवान फिर रचता है। वह अपनी त्रिगुणमयी माया को अंगीकार करके स्वभाववश परतंत्र हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को बारम्बार उनके कर्मानुसार रचता है—

प्रकृति स्वामक्ष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। IX-8

गीता मानती है कि अज्ञानी तथा तामसी मनुष्य परमात्मा को तुच्छ समझते हैं, किंतु महात्मा उस परमात्मा का निरन्तर भजन करते हैं। इस कारण भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर रूप में मेरे भाव को न जानने वाले मूढ़ लोग मुझे तुच्छ समझते हैं। गीता के अनुसार निश्चय करने की शक्ति, तत्त्व-ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में रखना, मन का निग्रह, सुख-दु:ख, उत्पत्ति, प्रलय, भय, अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, कीर्ति और अपकीर्ति—इस प्रकार वे प्राणियों के नाना प्रकार के भाव भगवत्कृपा से ही होते हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है वह भी मैं ही हूँ। क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है जो मेरे से रहित होवे—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। X-39

गीता सभी प्राणियों के प्रति हेतुरहित दया भाव का उपदेश देती है और सभी प्राणियों के प्रति हेतुरहित दयाभाव रखने वाला पुरुष ही दैवी सम्पदा से युक्त माना जाता है। सर्वथा भय का अभाव, अन्त:करण की अच्छी प्रकार से स्वच्छता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवत्पूजा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण, वेदशास्त्रों के पठन-पाठनपूर्वक भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्मपालन के लिए कष्ट सहन करना, शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्त:करण की सरलता, मन-वाणी-शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ तथा प्रिय भाषण करना, अपना उपकार करने वाले पर क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्त:करण की उपरामता किसी की भी निन्दा न करना, सब प्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, किसी में भी शत्रु का भाव न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव ये सब दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरूष के लक्षण हैं।

'गीता' एक सार्वभौम जीवन-दर्शन की पुस्तक है, जब हम ऐसा कहते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि 'गीता' में कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएँ हैं, जो व्यापक विचारजगत् के लिए समानरूप से ग्राह्य हैं। वे विशेषताएँ हैं :सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, ज्ञान और उपासना की। वस्तुत: ये विशेषताएँ 'गीता' को वेदों और उपनिषदों से मिली हैं, किन्तु उनको जिस व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है वह 'गीता' की अपनी विशिष्टता है। वह विशिष्टता है समस्त मानवता को दृष्टि में रखकर उसी के बीच का एक अंश लेकर उसकी विभिन्न स्थितियों की ऐसी व्याख्या करना कि, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति की संवेदना मिली हो, समष्टि का हृदय मिला हो। 'गीता' की इसी सार्वभौम दृष्टि को देखकर श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कहा था, 'गीता' का वह संगीत केवल अपनी ही जन्मभूमि तक सीमित न रहा, अपितु धरती के भिन्न-भिन्न भागों में प्रवेश कर प्रत्येक देश के प्रत्येक भावुक-हृदय व्यक्ति में उसने वहीं प्रतिध्वनि जगायी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आपाततः 'गीता' युद्धोन्माद को प्रोत्साहन देती हुई-सी प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः उसका एकमेव लक्ष्य कर्त्तव्य-पराङ्मुख पार्थ (अर्जुन) को कर्त्तव्यनिष्ठा की ओर प्रेरित करना है। वास्तव में 'गीता' एक महान् संग्राम का कारण होती हुई भी मानवता के लिए यह संदेश देती है कि जीवन का वास्तविक ध्येय मार-काट एवं युद्धलिप्सा न होकर उस सद्गति को प्राप्त करना है, जहां अपने-पराये का भेद मिट जाता है। 'गीता' किसी एक वर्ग, संप्रदाय, देश या व्यक्ति के लिए न होकर सबके लिए समान रूप से ग्राह्य है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, उन्नतिलाभ के दोनों मार्ग हैं। कर्म की दृष्टि से स्थूल बुद्धि वाले जगत् के लिए वह प्रवृत्तिपरक पुस्तक है। 'गीता' की कर्मदृष्टि व्यक्ति-व्यक्ति को उसके नियत कर्त्तव्यों के लिए प्रेरित करती है और साथ ही यह भी निर्धारित करती है कि एक का दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। दूसरे की उपेक्षा करके किया गया कोई कार्य 'गीता' की दृष्टि से हेय है। वह ग्राह्य तभी हो सकता है, जब उसमें सर्वाङ्गीण दृष्टि हो। स्वार्थ की छाया में किये गये काम्य कर्त्तव्य 'गीता' को स्वीकार नहीं है। निष्काम कर्म ही उसकी दृष्टि से श्रेष्ठ है। यह निष्काम कर्म-भावना वस्तुतः एक सार्वभौमिक भावना है, जिसमें एक व्यक्ति की, यहाँ तक कि कर्मों के अधिष्ठाता परमेश्वर की भी एक जैसी स्थिति है। 'गीता' की एक व्यापक एवं उदार भावना यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचार से अपने-अपने श्रेय की स्वयं चिन्ता करे। प्रेम, भक्ति, भावना, दया और शरणागति आदि ऐसे ही प्रवृत्तिपरक साधन हैं, जिनमें से किसी को भी चुनकर मनुष्य अपने कल्याण का स्वयं निर्माण कर सकता है।

3.3.2 प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति

महाभारत के विचारकों के समक्ष यह प्रश्न था कि सांसारिक जीवन में रहते हुए और अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए जीवन व्यतीत किया जाय या कर्म को त्यागकर संन्यास के लिए प्रवृत्त हुआ जाय? इस प्रश्न के समाधान का प्रयास प्राचीनकाल से होता आ रहा है। ऋग्वेद में कहा गया है परिश्रान्त होने तक प्रयत्न करने वाले मनुष्य के अतिरिक्त अन्यों की सहायता देवता भी नहीं करते हैं। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी है और अपनी आत्मा के अतिरिक्त उसका त्राण करने वाला कोई अन्य नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे।

महाभारत के एक अंश गीता में कर्म एवं संन्यास योग का विवेचन किया गया है। कृष्ण ने एक ओर कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाया है तो दूसरी ओर संन्यास को। अर्जुन को यह बोधगम्य नहीं हो रहा था कि क्या कर्म के चक्रव्यूह में पड़ा जाय या ब्रह्मवादी बनकर संन्यास लिया जाए? उन्होंने कृष्ण से प्रश्न किया है कि वे किसी एक को ही श्रेष्ठ बतावें। उत्तर में उन्होंने कहा है कि कर्म और संन्यास—दोनों प्रवृत्तियां ईश्वर-प्रदत्त हैं। लोक की ये दो निष्ठाएं हैं—निवृत्ति और प्रवृत्ति। दोनों के मूल वेद हैं। ज्ञान और कर्म दोनों ही धारा एक ही स्रोत से निकल कर लोक में प्रवाहित हैं। गीता ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का अद्भुत समन्वय किया है। इसमें कहा गया है कि समस्त जीवन ही कर्ममय है और फलत्याग की बुद्धि ही कर्म का यज्ञात्मक रूप है। यही संन्यास है। गीता के दर्शन का यही नवनीत है। गीता के द्वितीय अध्याय में कृष्ण ने संन्यास योग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। उनका विचार है कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल की प्राप्ति एवं अप्राप्ति उसके वश की बातें नहीं हैं। कर्मफल को त्यागकर केवल कर्त्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है वही सात्विक है। कर्मयोग का स्वल्प आचरण भी महासंकटों से रक्षा करता है। वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि कोई ज्ञानी पुरुष कर्म का त्याग कर वन में चला जाय तो यह समझना भूल होगा कि उसके कर्मों का क्षय हो गया। अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। संन्यासयोग और कर्मयोग—दोनों में कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। नियत कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। आसक्ति से रहित होकर कर्म करना चाहिए। जगत् में कोई निष्क्रिय नहीं रह सकता है। सूर्य एवं चन्द्र आदि भी निरन्तर कर्म करते हैं। कर्म ही सृष्टि और सृष्टि ही कर्म है। कर्म-त्याग से निर्वाह नहीं होगा। यदि प्रपंच छोड़कर परमार्थ किया जाय तो भोजन के लिए अन्न भी नहीं मिलेगा। कर्म के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। कर्म से ही समाज का संचालन होता है।

गीता में कर्मयोग की श्रेष्ठता का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि जो संन्यास की श्रेष्ठता का पक्ष लेते हैं, उनसे यह प्रश्न है कि क्या कर्म से विमुख होकर मनुष्य पलभर भी जीवित रह सकता है? कर्म त्याग से ही कोई निष्कर्म नहीं हो जाता और संन्यास ग्रहण से ही सिद्धि मिल जाय, ऐसा भी देखने में नहीं आता है। यह तो पाखंड है कि ऊपर से तो कर्मेन्द्रियों पर संन्यास का आवरण चढ़ा दिया जाय, पर मन से विषयों को भोगा जाय। यह मिथ्याचार है जो जीवन का घोर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शत्रु है। समस्या इन्द्रियों के बाह्य-नियंत्रण की नहीं, मन के सुधार की है। इन्द्रियों को मन से रोककर अनासक्त होकर चाहे जितना भी कर्म किया जाय वह सच्चा संन्यासी ही माना जाएगा। यही कर्मयोग की विशेषता है। कर्मयोग की व्याख्या करते हुए इसमें कहा गया है कि कर्मों से कोई विरत नहीं हो सकता है। संन्यासी का जीवन कर्म बिना नहीं चल सकता। उसको भी कुछ नहीं तो भरण-पोषण के लिए भिक्षा का आधार लेना ही पड़ेगा, जो कर्म ही है। यदि कर्मों से पलायित होकर संन्यास की इच्छा की जाती है तो वह व्यर्थ है। जब कर्म की परिधि से कोई बाहर नहीं है तो मनुष्य के लिए कर्म का मार्ग ही शेष रह जाता है। कर्म का भी अपना विज्ञान है। कर्म वही है जो यज्ञ की भावना से किया जाय। सारा जीवन ही यज्ञमय है और यज्ञ वह है जिसमें त्याग किया जाय और वह त्याग है कर्म के फल का त्याग। कर्म के त्याग से तो यज्ञ का स्वरूप ही विद्रूप हो जाता है, अत: निष्काम कर्म करना ही कर्म का वास्तविक स्वरूप है। कर्मफल के त्याग से उसका यज्ञीय स्वरूप बनता है। आत्मा और कर्म दोनों को कैसे साधा जाय? इसके उत्तर में दृष्टान्त के रूप में राजर्षि जनक के जीवन को उपस्थित किया गया है। वे शरीर से सभी कर्मों को करते हुए सबके प्रति मन से अनासक्त थे। ज्ञान और कर्म का, गार्हस्थ्य और संन्यास का एक ही जीवन में यह अद्‌भुत उदाहरण है। उन्हें किसी भी स्थिति में हर्ष या विषाद नहीं होता था। गीता में इसी को समत्वयोग कहा गया है। संन्यास की ऐसी स्थिति कैसे प्राप्त की जाय? कर्मों में असंग भाव की प्राप्ति के लिए अहंकार को नष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी होगा, जब मनुष्य यह समझे कि कर्त्ता वह नहीं है, बल्कि सब कर्म प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज एवं तम—तीनों गुणों के फल हैं। कर्म की यह भावना गीता को प्रतिपाद्य है।

गीता के चतुर्थ अध्याय में ज्ञान, कर्म एवं संन्यास के प्रश्नों पर विचार किया गया है। इसका मुख्य तत्व उस प्रकार के आदर्श व्यक्ति की व्याख्या करना है जिसमें ज्ञान का अभ्युदय हो और जो अनासक्तिमय कर्मयोग के मार्ग का अनुगामी हो। गीता के पंचम अध्याय में कर्म-संन्यास की स्पष्ट व्याख्या की गई है एवं दोनों में समन्वय स्थापित किया गया है। इस समन्वय के मूल में कृष्ण ने अनेक कारण बताये हैं। उनका कहना है कि जो कर्मयोगी संयमी है, वह संन्यासी के समान ही योग से युक्त होकर ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। योगयुक्त का लक्षण यह है कि उसका मन शुद्ध होता है, वाणी मधुर होती है, वह सब प्राणियों को अपने ही समान देखता है तथा सब कुछ अकर्त्तापन के भाव से करता है तथा सभी इन्द्रिय व्यापार उसके लिए स्वाभाविक बन जाते हैं। इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाती हैं, परकर्मयोगी का मन उनमें आसक्त नहीं होता है। आत्मशुद्धि की युक्ति जो प्राप्त कर लेता है वही योगी है, वही संन्यासी है। कर्मयोगी के लिए ज्ञान की महिमा है। ज्ञान का अर्थ है मन:शक्ति का अधिकतम विकास। जब मन में सच्चा ज्ञान उत्पन्न होता है तो इन्द्रियों के मार्ग में उज्ज्वल प्रकाश हो जाता है। ज्ञान की स्थिति में मनुष्य के मन में सबके प्रति और सब स्थिति में समता और संतुलन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। उसकी स्थिर बुद्धि में न तो हर्ष होता है और न विषाद ही। भौतिक भोगों में से सुख की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि विषय दु:ख के मूल हैं। वह काम और क्रोध पर नियंत्रण कर लेता है। ऐसा योगी ब्रह्म-सुख या अक्षय आनन्द में मग्न रहता है।

कर्म और संन्यास को समान समझने तथा समत्व की स्थिति का उपाय क्या है? गार्हस्थ्य जीवन में रहते हुए चंचल मन को कैसे स्थिर किया जाय? गीता के षष्ठ अध्याय में इसका निराकरण करते हुए कहा गया है कि मनन और ध्यान द्वारा चित्त-नियमन किया जा सकता है। चित्त का निरोध ही योग का फल है। मन का निरोध वैसा ही कठिन है जैसा कि वायु को बाँधना परन्तु अभ्यास और वैराग्य से वैसा किया जा सकता है। इसमें संन्यास और कर्मफल त्याग—इन दोनों मार्गों के मध्य समन्वय स्थापित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है। जो लोग कर्म त्याग कर संन्यास के पक्ष में हैं, उनके लिए कहा गया है कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मों को त्यागने से क्या लाभ? क्योंकि इनसे मनुष्य में पवित्रता आती है। कर्म को त्याग देने के दो ही कारण हो सकते हैं, या तो तमोगुणी मोह अर्थात् आलस्य और प्रमाद या कर्मों को शरीर के लिए झंझट समझ कर त्याग देना—यह राजस त्याग है। पर, क्या उससे भी त्याग का फल मिलता है? हमें करणीय कार्य को अवश्य करना चाहिए। यही सात्विक त्याग और संन्यास भाव का चरम उत्कर्ष है। जब कर्मकर्त्ता अनासक्त बुद्धि, जितेन्द्रिय और विगतस्पृह हो जाता है तो वह कर्म न करने की सिद्धि पा लेता है जिसकी प्राप्ति संन्यास से भी होता है। इस सिद्धि को प्राप्त कर ब्रह्म अनुभूति होती हे जो ज्ञान की परम निष्ठा है। वह ब्रह्म-मूर्त्ति हो जाता है। गीता का निष्काम कर्मयोग तत्कालीन प्रचलित दो आदर्शों—निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच समन्वय प्रस्तुत करता है। समस्त कर्मों से सन्यास ले लेना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना निवृत्ति का आदर्श है। प्रवृत्ति का आदेश समाज में रहते हुए कर्म करना है। गीता इन दोनों के बीच निष्काम कर्मयोग के माध्यम से समन्वय लाती है।

3.3.3 निष्काम कर्म

3.3.3.1 कर्म का अर्थ

कृ (करणे) धातु से व्युत्पन्न कर्म शब्द का अर्थ है—कार्य अर्थात् पृथक्-पृथक् चेष्टा जिसका संस्कार मनुष्य के चित् पर पड़ता है। ऐसे संस्कारों के संगठन से मनुष्य का चरित्र बनता है, व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कर्म का अर्थ ऐसे ही कार्य हैं जिनका संस्कार चित्त पर पड़ता है और जिसका शुभाशुभ फल मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर में भोगना पड़ता है।

गीता के समय तक यज्ञ की वैदिक धारणा में भी परिवर्तन हो गया था। गीता में कहीं-कहीं कर्म शब्द का प्रयोग यज्ञ के अर्थ में भी हुआ है। यज्ञ का तात्पर्य ऐसे कर्म से है जो दूसरों के कल्याणार्थ किया जाय और जिसको करने से न तो प्रतिफल प्राप्त किया जाय और न ही उसकी इच्छा की जाए। वास्तव में, गीता में कर्म शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसे कर्त्तव्यों के अर्थ में हुआ है जो गीता की रचना के समय तक समाज के विभिन्न वर्गों के लिए श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर नियत कर्म बन गये थे और जिन्हें धर्म कहा जाने लगा था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्मों को करना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा करके ही वह सामाजिक व्यवस्था में नैतिक सहयोग दे सकता है।

3.3.3.2 कर्म की अनिवार्यता

कर्म प्राणी का स्वभाव है। प्रत्येक जीव अपने जीवनकाल में निरन्तर कर्म करता रहता है। जीवन के साथ ही कर्म जुड़ा है। जब तक कर्म है तब तक जीवन चलता रहता है। इसीलिये गीता में यह आदेशित किया गया है—''कुरु कर्मेव''—कर्म करो ही। कर्म तो हमेशा होते रहते हैं लेकिन किस प्रकार के कर्म किये जाएँ, इसका निर्धारण आवश्यक है। वैसे, कर्म की गति अति जटिल है। इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। क्या कर्म है, क्या अकर्म है इस सन्दर्भ में महान् विद्वान् भी मोहित हैं।

गीता के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना कर्म के नहीं रह सकता। मानसिक, शारीरिक या मानसिक-शारीरिक कर्म तो निरन्तर चलते ही रहते हैं। कर्म के बिना जीवन का निर्वाह असम्भव है। हमारे सब कर्म प्रकृति के द्वारा निश्चित होते हैं। प्रकृति के सत्व, रज और तम नामक गुणों से कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। गीता यह महत्व की बात कहती है कि कोई भी कर्म पूर्णतया शुभ या अशुभ नहीं है। जिस प्रकार आग धुँए से ढकी रहती है उसी तरह प्रत्येक कार्य में कुछ-न-कुछ दोष भी हो सकता है। इसलिए कर्म को केवल शुभ और अशुभ की श्रेणियों में वर्गीकृत करना सम्भव नहीं है। अतः सबसे अच्छी बात यह है कि या तो ज्ञान के साथ निष्ठाभाव से कर्म किये जाएं या कर्म का फल ईश्वर को समर्पित कर दिए जाए। गीता ने कर्म का विभाजन दो तरह से किया है। एक विभाजन के अनुसार कर्म के तीन रूप हैं—कर्म, अकर्म तथा विकर्म। गीता के अनुसार कर्म का सम्बन्ध प्रमुख रूप से व्यक्ति की मानसिकता से है। इसलिए बाह्य संयम, जो मन में नहीं उतरा है, कर्म को खत्म नहीं कर सकता। बल्कि संयम की ओट में मानस में इच्छाओं तथा वासनाओं में उलझा व्यक्ति वास्तव में कर्म ही करता रहता है और जब तक इस तरह के कर्म का त्याग न हो, वह कर्म-त्यागी या संन्यासी वास्तविक अर्थ में नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जो व्यक्ति शरीर से तो कर्म करता है पर किसी भी तरह की मानसिक आसक्ति से जुड़ा नहीं है वह अकर्म कर रहा है, अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करना। कर्म के पीछे उपस्थित वासनाएं तथा आसक्ति ही व्यक्ति को बांधती है। चूंकि व्यक्ति बन्धनकारी वासना से मुक्त है इसलिये वह कर्म कर्म ही नहीं है। इस तरह कर्म का अर्थ ही है बन्धनकारी क्रिया। पर विकर्म वे हैं जो निषिद्ध कर्म हैं, जैसे हिंसा, झूठ, फरेब आदि। इस तरह कर्म का अर्थ हुआ वे क्रियाएं जो व्यक्ति को बांधती हैं, अकर्म का अर्थ हुआ मन का निरासक्त भाव जो कर्म करते हुए व्यक्ति में विद्यमान रहता है और विकर्म का अर्थ है वे कार्य जो शास्त्र द्वारा गलत माने गये हैं।

गीता में कर्म का दूसरा विभाजन भी पाया गया है। इस विभाजन के अनुसार कर्म, सात्विक, राजस या तामस इन तीनों में से किसी भी एक वर्ग में रखे जाते हैं। जो कर्म शास्त्र विधि से नियत और कर्त्तापन के अभिमान से रिक्त हैं, बिना फल की इच्छा से किया जाता है वह सात्विक कर्म है। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है तथा फल को चाहने वाली इच्छा

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Tadhun

और अहंकार से किया जाता है वह कर्म राजस है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किए बिना अज्ञानवश किया जाता है वह तामस कर्म है। वास्तव में इस विश्लेषण द्वारा गीता सभी सम्भव कर्मों का उल्लेख करती है और यह बतलाना चाहती है कि कौन से कर्म किये जाने चाहिए और कौन से नहीं। गीता के कथन के आधार पर कर्मों के सम्बन्ध में निम्नलिखित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

निषिद्ध कर्म जैसे चोरी, कपट, हिंसा, प्रमाद, भ्रष्टाचार आदि का पूर्ण त्याग किया जाना चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से काम्य कर्मों का जैसे स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले कर्मों का भी त्याग करना चाहिए। भौतिक दृष्टि से जो वस्तु महत्त्वपूर्ण है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। शास्त्र की दृष्टि से विहित कार्य जैसे दान, तप, आजीविका आदि के लिए कर्म निश्चित ही किये जाने चाहिये। पर इन कर्मों में भी फल की अपेक्षा न करते हुए कार्यरत होना चाहिए। वर्ण और आश्रम के कर्म भी इसी तरह सम्पन्न करना चाहिये। सभी प्रकार के कर्मों में सूक्ष्म वासना और अहंभाव को स्थान नहीं दिया जाना चाहिये। यदि ज्ञान द्वारा यह सब करना सम्भव न हो तो सभी कर्मों के फल ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दिये जाने चाहिये। गीता इस तरह निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा देती है, इसे ही निष्काम कर्मयोग का नाम दिया गया है। गीता ने जिस कर्मयोग की स्थापना की है उसके पीछे निहित आध्यात्मिक उद्देश्य तो स्पष्ट है, पर गीता ने निष्काम कर्म के लिए एक ऐसा भी कारण दिया है जो ईश्वर को न मानने पर भी अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से भी स्वीकार किया जा सकता है।

गीता के अनुसार प्रत्येक कर्म के पांच घटक हैं—अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तथा दैव। यह दैव नामक घटक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता। पर यही तत्व व्यक्ति के कर्म को सफलता या विफलता प्रदान करता है। इसलिये जो सफलता या विफलता व्यक्ति को कार्य में प्राप्त होती है, वह पूरी तरह व्यक्ति के प्रयत्नों के कारण सम्भव नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यदि व्यक्ति समझता है कि सफलता या विफलता का उत्तरदायी वह स्वयं है तो गलती करता है। इससे उसे अभिमान या निराशा भी आ सकती है। इसलिये सबसे अच्छा रास्ता यह है कि बिना फल की परवाह किए कार्य किये जाएं। यही कुशलतापूर्वक कर्म करना है क्योंकि इस तरह किये गये कार्य में अभिमान या निराशा दोनों के लिये कोई स्थान नहीं है। केवल इसी तरह कर्म कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं उनके लिये गीता में विश्वास की यह वाणी है कि ईश्वर के भक्त को कोई हानि नहीं हो सकती। भक्त के योग-क्षेम का उत्तरदायित्व ईश्वर अपने ऊपर ले लेता है। यह कर्म के सिद्धान्त की विरोधी बात नहीं है क्योंकि ईश्वर पर विश्वास रखना भी तो एक कर्म ही है। इसलिए एक पराजित न होने वाली कर्मशीलता की प्रेरणा गीता में परिव्याप्त है।

3.3.3.3 सकाम और निष्काम कर्म

एक अन्य दृष्टिकोण से सभी कर्मों को सकाम और निष्काम—दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। सकाम कर्म वह है जो स्व सुख, लौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से किया जाता है। यह किसी संयोग या किसी पदार्थ के संग्रह की इच्छा से किया जाता है। सकाम कर्म का केन्द्र शरीर सुख है। निष्काम कर्म वह कर्म है जिसे हम किसी कामना की पूर्ति के लिए नहीं करते, अपने सुख के लिये नहीं करते, अपितु दूसरे के हित के लिए करते हैं। स्पष्ट है कि कामनायुक्त कर्म को सकाम कर्म कहते हैं, और कामना रहित कर्म को निष्काम कर्म। निष्काम कर्म किसी उद्देश्य अथवा आवश्यकता से प्रेरित होता है और सकाम कर्म किसी कामना से प्रेरित होता है। उद्देश्य या आवश्यकता का सम्बन्ध नित्य अथवा आध्यात्मिक तत्व से होता है। कामना अनित्य तत्त्व की होती है। आवश्यकता एक और कामनाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति तो सम्भव है लेकिन कामना की पूर्ति कभी नहीं होती। उदाहरणार्थ भूख शरीर की आवश्यकता है जिसकी पूर्ति सम्भव है लेकिन भोजन में स्वादिष्ट व्यंजनों के प्राप्त होने की कामना होती है जिसकी पूर्ति कभी नहीं होती।

कामना से पदार्थ प्राप्त नहीं होते। प्राप्त हो भी जाएं तो वे स्थायी नहीं रहते। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कामनाओं की पूर्ति हो रही है लेकिन उनसे अन्य अनेक कामनाओं की उत्पत्ति हो जाती है और यह श्रृंखला बनी रहती है। अतः कामनायुक्त अर्थात् सकाम कर्म को छोड़कर कर्म योगी निष्काम भाव से सेवा (कर्मयोग), स्वरूप बोध (ज्ञान योग) और परमात्मा प्राप्ति (भक्ति योग) इन तीनों उद्देश्यों से कर्म करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निष्काम कर्मयोग का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के 39वें श्लोक से आरम्भ हो जाता है। सम्पूर्ण गीता में कर्म के प्रति अहंता, ममता और आसक्ति का विरोध किया गया है, इसमें इस प्रकार का विचार मिलता है कि तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं, अत: तुम कर्मफल की वासना वाले मत बनो और कर्मों को छोड़ देने का भी विचार मत करो। गीता की यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति क्षण मात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म करना व्यक्ति का अधिकार और कर्त्तव्य दोनों हैं। उसे कर्म करना ही चाहिए लेकिन आदेश दिया गया है—''मा कर्मफल हेतुर्भू'' अर्थात् फलार्थी मत बनो, कर्मफल की वासना से युक्त मत रहो। इसलिए गीता में फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने की शिक्षा दी गयी है क्योंकि ''कृपणा फलहेतव:'' अर्थात् फल की इच्छा रखने वाले कृपण (दीन, दया के पात्र) होते हैं। यहां यह शंका हो सकती है कि एक ओर गीता में कर्म करने का आदेश दिया गया है, कर्म को अधिकार और कर्त्तव्य माना गया है और दूसरी ओर फलेच्छा से रहित होकर कर्म करने को कहा गया है तो फलेच्छा या फल की कामना के बिना कर्मों में प्रवृत्ति कैसे होगी? इसके समाधान स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कामना की पूर्ति और निवृत्ति दोनों के लिए कर्मों में प्रवृत्ति हो सकती है। गीता में स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी व्यक्ति कामना की पूर्ति के लिए कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और ज्ञानी पुरुष (योग) आसक्ति को त्याग कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। वस्तुत: कर्म करने का गीता का आदेश आवश्यकता (उद्देश्य) की पूर्ति के लिए ही है, कामना (इच्छा) की पूर्ति के लिए नहीं। कामना की पूर्ति के लिए वही मनुष्य कर्मों में प्रवृत्त होते हैं जो अपने वास्तविक उद्देश्य को भूल गये हैं, उससे विमुख हो गये हैं। ऐसे ही लोगों को दीन या दया का पात्र कहा गया है। इसके विपरीत जो व्यक्ति उद्देश्य को ध्यान में रखकर कामना की निवृत्ति के लिए कर्म करते हैं उन्हें मनीषी कहा गया है। गीता में एक ओर तो यह कहा गया है—फलासक्ति से कर्मबन्ध दृढ़ होता है और दूसरी ओर कर्म करने का आदेश दिया गया है तो क्या कर्म करने से कर्मबन्ध दृढ़ नहीं होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि कर्म करने से कर्मबन्ध का होना या न होना कर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। यद्यपि यह सही है कि गीता में संकल्प की स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है, तथापि संकल्पित कर्म के प्रति यदि कर्त्ता भाव है तो वह कर्म, इष्ट, अनित्य और मिश्रित तीन प्रकार का फल देता है। परन्तु जिस कर्म में ''मैं, कर्त्ता नहीं हूँ'' ऐसा भाव रहता है वह बन्धन कारक नहीं होता। उसे चेष्टा मात्र कहा गया है। जिस प्रकार कांटा से कांटा निकाला जाता है, उसी प्रकार चेष्टाएं कर्मबन्ध से छुटकारा दिलाने में सहायक होती हैं। निष्काम भाव प्राप्त करने में निम्नलिखित बातें भी सहायक हो सकती हैं।

3.3.4 लोक संग्रह

चेष्टाएँ स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं होतीं। स्वार्थ (अपने लिए कर्म करने) से ही सभी प्रकार की विकृतियाँ और विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। स्वार्थ से कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाते हैं। बन्धन को तोड़ना और मुक्ति का आनन्द लेना ही मानव का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वहित-युक्त कर्म अभीष्ट नहीं है। हमारे पास जितनी समझ, समय, सामर्थ्य और सामग्री है, उसी से हम दूसरों की सेवा करें तो वह सेवा लोक हितकारी होगी। इसी बात को ध्यान में रखकर गीता में लोक संग्रह का उल्लेख किया गया है। गीता में व्यावहारिक नैतिकता के स्तर में लोक संग्रह को यानी सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ माना गया है। गीता की यह स्पष्ट मान्यता है कि आसक्ति रहित होकर लोक संग्रह को ध्यान में रखकर किये गये कर्म से ही व्यक्ति संसिद्धि प्राप्त करता है। गीता में सर्व भूत-हित को सर्वोच्च आदर्श माना गया है। जो व्यक्ति समस्त भूतों (जीवों) के हित में रत हैं वे ईश्वर को प्राप्त होते हैं। सर्वभूत हित के लिए विद्वान् पुरुष को अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। आसक्ति रहित एवं हेतु रहित होकर समस्त भूतों के प्रति अहिंसा, अक्रोध, अद्रोह, करुणा, सत्य, सद्भावना, परोपकार आदि धर्मों का पालन दैवी सम्पदा के लक्षण माने गये हैं। दैवी सम्पदा देवतुल्य पुरुष के गुण या ईश्वरीय गुणों को कहते हैं जिनके अभ्यास से मनुष्य परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

3.3.5 नियत स्वधर्म पालन भाव

सामाजिक कल्याण को परम पुरुषार्थ के रूप में मान्य करते हुए गीता में स्वधर्म के पालन पर बल दिया गया है। गुण और कर्म के आधार पर जो चार प्रकार के वर्णों की रचना हुई है, उन वर्णों के लिए निर्धारित कर्म करना ही स्वधर्म है। इसे ही सहज कर्म, स्वकर्म, नियत कर्म, स्वभाव नियत कर्म आदि कहा गया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यहाँ धर्म शब्द कर्म या कर्त्तव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गीता में स्वधर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है। आकर्षक परधर्म से गुण रहित लगने वाला स्वधर्म श्रेष्ठ है। स्वभाव से नियत कर्म को करने वाला मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। गीता का यह आदेश है कि दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार धुँए से अग्नि आवृत्त रहती है उसी प्रकार सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से आवृत्त हैं। प्रत्येक कर्म के दोष से आवृत्त होने के बावजूद भी आसक्ति रहित कर्म करने वाला व्यक्ति नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त होता है। यदि व्यक्ति स्वधर्म का पालन करने के लिए युद्ध भी करता है तो उसे गीता में क्षत्रिय के लिए कल्याण कारक कर्त्तव्य कहा गया है, इससे यह स्पष्ट है कि गीता का विचार आधुनिक दार्शनिक ब्रैडले के ''मेरा स्थान और उससे सम्बंधित कर्त्तव्य'' की धारणा के समरूप है। ब्रैडले की यह मान्यता है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसकी मानसिक रुचियों के अनुरूप निर्धारित है। यदि व्यक्ति समाज में अपने स्थान के अनुरूप कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह सामाजिक हित के साथ ही साथ स्वहित करता भी है। गीता के अनुसार सामाजिक हित के लिए स्वधर्म का पालन व्यक्ति को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्त्तव्य के पालन के रूप में करना चाहिए। गीता में स्वीकृत चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन गुण और कर्म के आधार पर किया गया है। प्रत्येक वर्ण के सदस्य को अपने वर्ण के लिए निर्धारित कर्म का फलेच्छा से रहित होकर पालन आवश्यक है। अन्यथा वह कर्त्तव्यच्युत समझा जायेगा। गतिशील सृष्टिचक्र में यदि एक व्यक्ति भी कर्त्तव्यच्युत होता है तो उसका विपरीत प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ता है।

इस प्रकार गुण और कर्म के आधार पर विभाजित वर्ण व्यवस्था को स्वीकार कर गीता में निष्काम भाव से स्वधर्म के पालन को आवश्यक माना गया है। श्रीमद्भगवद् गीता की यह भी मान्यता है कि स्वकर्म के आचरण में फलाशा का परित्याग कर कार्यरत पुरुष स्वर्ग नर्क न जाकर पवित्र होकर विशुद्ध ज्ञान एवं पराभक्ति पा लेता है जिससे उसका परम श्रेय निश्चित है।

3.3.6 कर्म, अकर्म और विकर्म

स्पष्ट है कि स्वधर्म या नियम कर्म को करना साध्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है। कर्मों का निर्धारण उनका विहित या निषिद्ध होना, देश, काल, वर्ण, आयु आदि पर निर्भर है। इतना निश्चित है कि फलाशा का परित्याग करके जो व्यक्ति करणीय कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है। नियम कर्म का त्याग उचित नहीं है। समस्त कर्मों का त्याग तो सम्भव ही नहीं है, इसलिये जो व्यक्ति कर्मफल का त्याग कर देता है, वही त्यागी है। गीता के अनुसार कर्मों के त्याग अर्थात् अकर्म की तुलना में कर्म श्रेयस्कर है। कर्मों का त्याग सच्चा संन्यास नहीं कहा जा सकता। इससे व्यक्ति साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी सम्भव नहीं है इसलिये गीता में शास्त्र विहित कर्म करने, नियत कर्म करने, फलाशा से रहित होकर कर्म करने को श्रेष्ठ माना गया है। वस्तुतः नैष्कर्म्य के लिए गीता की मान्यता यह है कि जो व्यक्ति अहंकार रहित की गयी सम्पूर्ण चेष्टाओं अर्थात् कर्मों में अकर्म देखे और जो अकर्म में कर्म को, वह व्यक्ति ज्ञानी है और वह सम्पूर्ण कर्मों को करते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता।

गीता में विकर्म शब्द का भी प्रयोग किया गया है। विकर्म के दो अर्थ होते हैं—निषिद्ध कर्म और विशेष कर्म। आचार्य विनोबा ने गीता प्रवचन में विकर्म का अर्थ विशेष कर्म ही लिया है। उनके अनुसार ''कर्म के साथ मन का मेल होना चाहिए। इस मन के मेल को ही गीता विकर्म कहती है। इस विशेष कर्म (विकर्म) का इस मानसिक अनुसंधान का योग जब हम करेंगे तभी उसमें निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ जब आन्तरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल हुआ तो निष्कामता आती है। कर्म में विकर्म उडेलने से अकर्म होता है। विकर्म के कारण मन की शुद्धि के कारण कर्म का कर्मत्व उड़ जाता है। कर्म में विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्म करके फिर उसे पोंछ दिया हो। अपने मत को आचार्य विनोबा ने गणितीय सूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है। कर्म+विकर्म = अकर्म।

अन्य व्याख्याकारों ने विकर्म शब्द को निषिद्ध कर्म के अर्थ में प्रयुक्त किया है। निषिद्ध कर्म ऐसा कर्म होता है जो स्वभावतः बिना आसक्ति के किया जाने योग्य नहीं होता, इसलिए बन्धन कारक होता है, जैसे हत्या, झूठ बोलना, व्यभिचार इत्यादि। इस सन्दर्भ में अन्ततः यही कहना उपयुक्त होगा कि अकर्म और विकर्म की तुलना में कर्म उत्तम है। लेकिन वही कर्म उत्तम माना जा सकता है जो निष्काम है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.7 स्थितप्रज्ञता

नैष्कर्म्य की सिद्धि के लिए गीता स्थितप्रज्ञता को आवश्यक मानती है। स्थितप्रज्ञ वही है जिसकी बुद्धि स्थिर है। सामान्य व्यक्ति की बुद्धि विभिन्न इच्छाओं के प्रति आकर्षित होती रहती है। उसकी इन्द्रियां अपने विषयों में भटकती रहती हैं। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ वह है जो सम्पूर्ण कामनाओं (इच्छाओं) को त्याग कर आत्म-तुष्ट रहता है। वह दु:ख में मन से उद्विग्न नहीं होता, सुख के प्रति स्पर्धा नहीं रखता और राग, भय एवं क्रोध से परे होता है। वह शुभ वस्तुओं की प्राप्ति पर प्रसन्न नहीं होता और अशुभ वस्तुओं की उपलब्धि पर द्वेष नहीं करता। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट कर अपने वश में कर लेता है तथा अपने चित्त को ईश्वर में लगाता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति मन से विषयों का ही चिन्तन करता रहता है, उसकी आसक्ति उन विषयों में हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों में कामना होती है और कामना सिद्धि में विघ्न पड़ने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से मोह अथवा अविवेक उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मृति भ्रमित हो जाती है जिससे ज्ञान शक्ति का नाश होता है। ज्ञान शक्ति के नष्ट हो जाने पर व्यक्ति अपने श्रेय साधन से च्युत हो जाता है। अत: गीता की मान्यता है कि जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर इन्द्रियों को पूरी तरह आत्मा के वशीभूत कर विषय भोग करता है वह प्रसाद अर्थात् अन्त:करण की प्रसन्नता प्राप्त करता है। ऐसी स्थिति में उसके समस्त शोक नष्ट हो जाते हैं और उसकी बुद्धि शीघ्र ही प्रतिष्ठित हो जाती है। जिसकी बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती उसकी ईश्वर में आस्था भी नहीं हाती और उसे शांति की प्राप्ति नहीं होती। अशान्त व्यक्ति को सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

जो व्यक्ति मन और इन्द्रियों को पूरी तरह से अपने वश में कर लेता है वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उसकी बुद्धि निश्चल रहती है। वह काम तृप्ति के पीछे पागल नहीं होता। जिस प्रकार विभिन्न नदियों के मिलते रहने पर भी समुद्र शान्त रहता है उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में सभी भोग बिना विकार उत्पन्न किये हुए समा जाते हैं और वह परम शांति को प्राप्त करता है। ऐसा व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित एवं अहंकार रहित होकर शांति को प्राप्त होता है। यह स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है। जब व्यक्ति इस स्थिति में पहुंच जाता है तब वह मोह ग्रस्त नहीं होता अपितु ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करता है।

3.3.8 ईश्वरार्पण भाव

ईश्वरार्पण भाव से किये गये कार्य निरहंकार भाव से किये जाने के कारण बन्धनकारक नहीं होते। स्वार्थ पूर्ति उनका उद्देश्य न होने के कारण उन्हें भी निष्काम कर्म की श्रेणी में लाया जा सकता है। अन्तत: हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गीता का निष्काम कर्मयोग जीवन की सच्चाई को प्रकट करता है। यह वह मार्ग है जिस पर चलते हुए मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते। ऐसे कर्मों से ही व्यक्ति पूर्णता की अवस्था में पहुंचता है, ब्राह्मी स्थिति में पहुंचता है या ईश्वर में निवास करता है और परम शांति को प्राप्त करता है। ये कर्म सिर्फ अपने लिए ही नहीं होते बल्कि लोकहित की दृष्टि से होते हैं। यहां पर भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निष्काम भाव ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों से सम्बद्ध है। सकाम ज्ञान, सकाम भक्ति और सकाम कर्म त्याज्य हैं। निष्काम भाव कर्म करने में ज्ञान और भक्ति का होना अवश्यंभावी है। गीता में समस्त ज्ञानियों और भक्तों को भी समाज के समक्ष प्रशस्त मार्ग रखने के लिए निरन्तर अनासक्त भाव से कर्म करने की आज्ञा दी गई है। निष्काम कर्म का सन्देश हमारे आवेगों का आध्यात्मीकरण कर देता है। जो आवेग व्यक्ति को हीन आत्मा के धरातल पर प्रस्तुत करते हैं उनके नियंत्रण एवं जिनसे व्यक्ति उच्च आत्मा के धरातल पर पहुंचता है उनके उन्नयन का विचार गीता में स्पष्ट झलकता है।

3.3.9 समत्व योग

समत्व योगी वे आत्मज्ञानी पुरुष होते हैं जो भौतिक शरीरों के बाहरी भेदभाव के बनाव को महत्त्व नहीं देते, किन्तु सब शरीरों को एक ही निर्विकार एवं सम ब्रह्म अथवा आत्मा के अनेक नामों और रूपों का कल्पित बनाव समझ कर सबके साथ एकता के साम्य-भाव का व्यवहार करते हैं। शरीर चाहे सर्वगुणसंपन्न ब्राह्मण का हो या एक मेहतर चाण्डाल का, पवित्र गाय का हो या अपवित्र कुत्ते का, मोटे हाथी का हो या छोटी चींटी का, उनकी सबके विषय में सदा से सम दृष्टि रहती है क्योंकि वो जानते हैं कि ऊंचे, नीचे, मोटे, छोटे, पवित्र, मलिन आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सभी द्वन्द्व, सबके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा-परमात्मा की अपरा और परा प्रकृति के बनाव मात्र हैं और वे बाहरी बनाव प्रतिक्षण परिवर्तनशील अर्थात् निरन्तर बदलते रहने वाले एवं उत्पत्तिनाशवान अर्थात् बनने और मिटने वाले होते हैं इसलिये उनके भेद सभी कल्पित और झूठे हैं। अत: इन भेदभावों का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न ही अपने साम्यभाव से ही विचलित होते हैं। अर्थात् वे न तो वस्तुत: किसी को ऊंचा, पवित्र अथवा मोटा मानकर उससे विशेष प्रभावित होते हैं और न किसी को नीचा, अपवित्र अथवा छोटा मानकर उसका तिरस्कार करते हैं, किन्तु सबके साथ उनके स्वाभाविक गुणों की योग्यतानुसार वे समता का व्यवहार करते हैं। उनको अनुकूल पदार्थों की प्राप्ति से इतना हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल की प्राप्ति से इतना उद्वेग नहीं होता कि जिससे उनके साम्य-भाव में कोई अन्तर आवे, अर्थात् आंखों के सामने अच्छे, चित्ताकर्षक, शुभ एवं पवित्र रूप और दृश्य आवें अथवा बुरे, अशुभ एवं मलिन रूप और दृश्य आवें, कानों में सुरीले, मान बढ़ाने वाले एवं मांगलिक शब्द पड़ें अथवा कड़वे, कर्कश, अपमानजनक एवं अमांगलिक शब्द पड़ें, नाक में सुगन्ध आवे अथवा दुर्गन्ध, त्वचा को कोमल, सुहावने एवं पवित्र स्पर्श प्राप्त हों अथवा कठिन, असह्य एवं मलिन स्पर्श, जिह्वा को स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हों अथवा बेस्वाद भोजन, इस तरह सभी इन्द्रियों तथा मन के अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थों एवं विषयों की प्राप्ति से उनके अन्त:करण में हर्ष अथवा उद्वेग-जनित क्षोभ नहीं होता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ज्ञानी पुरुष को इन्द्रियों के विषयों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का भान ही नहीं होता। वास्तव में साधारण लोगों की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी को इन विषयों का विशेष ज्ञान होता है, क्योंकि उसकी ज्ञान-शक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। परन्तु वह अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का अनुभव करता हुआ भी उनसे विचलित नहीं होता। जिनका मन साम्य-भाव में स्थित हो जाता है, वे अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छे-बुरे आदि सब द्वन्द्वों को अपनी ही प्रकृति का बनाव मात्र समझते हैं, अर्थात् यह जगत्-प्रपंच उनको अपनी ही प्रकृति अथवा स्वभाव का खेल जान पड़ता है। उनकी दृष्टि में अपने से भिन्न जगत्-प्रपंच कुछ रहता ही नहीं।

जगत् के पदार्थों का अलग-अलग अस्तित्व मानकर उनके संयोग से होने वाले क्षणिक सुखों में आसक्ति रखने से दु:ख अवश्य ही होता है, क्योंकि स्थूल शरीरों से संबंध रखने वाले बाहरी विषयों की अनुकूलता-रूप जितने भी स्थूल हो, उनके साथ ही प्रतिकूलता-रूप दु:ख लगा रहता है। अनुकूलता, प्रतिकूलता अथवा सुख, दु:ख आदि द्वन्द्वों के जोड़े हैं, अत: वे साथ ही रहते हैं और दोनों ही परिवर्तनशील एवं आने-जाने वाले हैं, इसलिए यदि अनुकूलता के संयोग में सुख माना जाता है तो उसके वियोग में दु:ख अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त पहले तो उन सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख-प्राप्ति की लालसा होती है और दूसरों से अधिक सुखों की ईर्ष्या होती है एवं प्राप्त सुखों के नाश का भय बना रहता है और सुख-भोग के अन्तर उसका दुष्परिणाम भी अवश्य होता है। पर जहाँ अनुकूल पदार्थों की आकांक्षारूप काम उत्पन्न होता है वहां उसकी प्रतिक्रियारूप क्रोध अवश्य उत्पन्न होता है। काम, क्रोध तथा राग-द्वेष ही सब दु:खों एवं बन्धनों के कारण हैं। इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाला सुख राजस सुख है, जो पहले अमृत-सा प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम में विष की तरह होता है। अत: वह वास्तविक सुख नहीं किन्तु दु:ख ही का द्योतक है।

समत्व-योगी इतना संज्ञाहीन अथवा जड़ नहीं हो जाता है कि उसको सुख-दु:ख, ठंडे-गर्म, मान-अपमान, अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे, लोहे, पत्थर और सोने आदि का इतना भी भेद प्रतीत नहीं होता। वास्तव में समत्वयोगी इस तरह संज्ञाहीन नहीं होता। वह तो आत्म-ज्ञान और दृश्य पदार्थों के तात्विक विज्ञान में ही होता है, इसलिए उसे जगत् की इन भिन्नताओं का उतना ज्ञान होता है, जितना साधारण लोगों को होना संभव नहीं है। परन्तु साधारण लोग तो सब भिन्नताओं के केवल बाह्य रूपों का इन्द्रिय-जन्य ज्ञान रखते हैं, इसलिए वे आसक्त और विक्षिप्त रहते हैं। आत्मज्ञानी समत्वयोगी की भिन्नताओं के बाह्य रूपों के इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता किन्तु इनके भिन्न-भिन्न गुणों, इनकी अलग-अलग योग्यताओं और इनके सूक्ष्म कारणों सहित इनकी भीतरी वास्तविकता अर्थात् सबकी आध्यात्मिक एकता का भी यथार्थ रखता है और इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान-युक्त सब प्रकार के सांसारिक व्यवहार करता हुआ भी वह किसी में आसक्ति नहीं रखता, अत: सम और शान्त रहता है। यद्यपि वह शरीर रूप से ठंडे और गर्म, सुख और दु:ख, मान और अपमान, अनुकूल और प्रतिकूल, अच्छे और बुरे आदि द्वन्द्वों की अलग-अलग वेदनाएँ उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह कि दूसरे लोग अनुभव करते हैं, परन्तु उसकी बुद्धि में यह निश्चय रहता है कि भोक्ता और भोग्य अथवा अनुभव करने वाला और अनुभव किया जाने वाला अथवा ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुत: एक ही हैं। किसी अवस्था में सुख और मान आदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुकूल वेदनाएँ भी अहितकर होती हैं और किसी अवस्था में दु:ख और अपमान आदि प्रतिकूल वेदनाएँ भी हितकर होती हैं। इसलिए उसका अन्त:करण अनुकूलता-प्रतिकूलता की वेदनाओं का अनुभव करता हुआ भी तत्त्व-ज्ञान के कारण उनसे प्रभावित नहीं होता। इसी तरह यद्यपि लोहे, मिट्टी और सोने का बाहरी भेद यानी उनके पृथक्-पृथक् रंग, रूप, गुण, मूल्य आदि उसकी इन्द्रियों को वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे कि दूसरों को और उनका भिन्न-भिन्न प्रकार से यथायोग्य उपयोग भी वह करता है, परन्तु ऐसा करते हुए भी उसकी दृष्टि इन सबके एकत्व-भाव पर जमी रहती है। इन सबको एकसमान पार्थिव पदार्थ समझता है। यद्यपि उपयोग की दृष्टि से वह भी इनकी योग्यता भिन्न-भिन्न समझता है, तथापि उसको यह ज्ञान रहता है कि किसी भी पदार्थ के उपयोग, मूल्य और अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सदा एकसे नहीं रहते, किन्तु देशकाल आदि की परिस्थिति के साथ वे बदलते रहते हैं। किसी परिस्थिति में सोने का कोई उपयोग नहीं होता तथा उसका संग्रह बहुत ही दु:खदायक होता है और मिट्टी तथा लोहे से बड़ा लाभ होता है, उस स्थिति में सोने की कोई कीमत नहीं होती, किन्तु लोहा और मिट्टी बड़े कीमती हो जाते हैं। इसलिए वह लोहे, मिट्टी और सोने की पृथक्-पृथक् योग्यता का भेद अनुभव करता हुआ भी तात्विक विचार से उस भेद को कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है, अत: उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति में उसको कोई हर्ष या विषाद नही होता। इसी तरह अपने शरीर के सम्बंधियों में भी वह भेद का अनुभव अवश्य करता है और उस अनुभव के साथ ही वह सबकी पृथक्-पृथक् योग्यता और परस्पर के सम्बन्ध के अनुसार उनके साथ यथायोग्य व्यवहार करता है, अर्थात् अपने आत्मीय-जनों को वह अपने शरीर के निकटवर्ती स्वजन समझता हुआ उनसे घनिष्ठ प्रेम का व्यवहार करता है, मित्रों के साथ साधारण प्रेम का, वैर रखने वालों के साथ उसके भावानुसार वैर का, उपेक्षा करने वालों के साथ उपेक्षा का, शत्रु और मित्र की बीच की स्थिति वालों के साथ साधारण शिष्टाचार का, जो द्वेष रखने वाले हैं उनसे उनकी भावना एवं योग्यता के अनुसार द्वेष का, बन्धुजनों के साथ उनके योग्य प्यार एवं सहानुभूति का, सज्जनों के साथ उनके अनुकूल सौजन्य का, शठों के साथ उनके अनुकूल शाठ्य का बर्ताव करता है। तात्पर्य यह है कि जिस शरीर की जैसी योग्यता और जैसी भावना होती है, उसी के अनुसार वह उसके साथ बर्ताव करता है। परन्तु वे बर्ताव उन भिन्न-भिन्न शरीरों के पूर्व तथा वर्तमान कर्मों के फल स्वरूप उनके स्वाभाविक गुणों एवं भावनाओं की योग्यतानुसार स्वत: ही होते हैं। अर्थात् उन लोगों की भावनाएँ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तावों का कारण होती हैं। समत्वयोगी के अन्त:करण में उन भिन्नता के बर्तावों का कोई प्रभाव नहीं रहता और वह अपनी तरफ से किसी के साथ कोई अच्छा या बुरा बर्ताव नहीं करता, अर्थात् उसके अन्त:करण में किसी से न राग रहता है न द्वेष, न कर्तापन का अहंकार रहता है कि मैं अमुक व्यक्ति के साथ अमुक प्रकार का अच्छा या बुरा बर्ताव कर रहा हूं, उसे कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, इसलिए यदि वह किसी से कठोरता आदि का बर्ताव करता है तो भी वह उसके हित के लिए ही होता है। द्वेषवश किसी की हानि करने के लिए नहीं होता। अत: सबके साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के बतार्व करते हुए भी अपने शरीर और दूसरों के शरीरों में एक ही आत्मा (अपने-आप) के अनेक रूप जानता है। भेद केवल गुण-वैचित्र्य का मानता है और गुणों की विभन्नता सदा एकसार नहीं रहती, इसलिए उसको कल्पित जानकर वह उसमें आसक्ति नहीं रखता। उसके अन्त:करण में एक तरफ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न गुणों की योग्यता और उनके साथ अपने भिन्न-भिन्न सम्बंधों एवं उन सम्बन्धों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के बर्तावों का अनुभव रहता है और दूसरी तरफ सबके एकत्व-भाव का अनुभव रहता है इसलिए वह भिन्नता के प्रभाव से वस्तुत: रहित होता है। उसका अन्त:करण काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ग्लानि, राग, द्वेष, हर्ष, शोक, सुख, दु:ख आदि अनेक प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल वेदनाओं का अनुभव करता हुआ भी निर्विकार, शांत एवं सम रहता है। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक सबकी एकता के सामंजस्य में स्थित होती है, उतनी ही अधिक उसके अन्त:करण में भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएँ प्रभाव-रहित होती हैं और जिसकी बुद्धि पूर्णतया सबकी एकता के सम-भाव में स्थित हो जाती हैं, वह इन वेदनाओं में तथा अपने-पराये, शत्रु-मित्र, भले-बुरे आदि के सम्बंधों में पूर्णतया सम रहता है और उसकी स्थिति इससे ऊपर होती है।

समत्व की प्राप्ति हेतु साधनों के सदंर्भ में योगाभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करने का विधान किया है। योगाभ्यास करने के लिए पहले शरीर की सारी चेष्टाओं को सम करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक शारीरिक वासनाओं में समता नहीं होती, तब तक मन में भी समता अथवा एकाग्रता नहीं हो सकती। इसलिए मन को एकाग्र करने के निमित्त योगाभ्यास करने वाले को आहार-विहार, रहन-सहन, सोना-जागना, काम-काज आदि शरीर की सभी चेष्टाओं को यथायोग्य सम करना चाहिए। अर्थात् भोजन (खाना-पानी) समयानुसार उस प्रकार का तथा उतनी मात्रा में एवं उस ढंग से करना चाहिए, जो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपनी प्रकृति के अनुकूल हो और जो सहज ही पच जाए तथा जिसे मन और इन्द्रियों की चंचलता न बढ़े एवं अरुचि, अजीर्ण और आलस्य आदि विकार उत्पन्न न हों। घूमना, फिरना, खेलना, कसरत करना, मनो-विनोद तथा इन्द्रियों के विषयों में वर्तना आदि विहार, नियत समय पर उचित रीति से करने ही चाहिए कि जिनसे शरीर और इन्द्रियों में शिथिलता एवं दुर्बलता न आवे और न उनमें इतनी आसक्ति ही रखनी चाहिए कि उनका व्यसन पड़ जाये एवं प्रमाद होकर समय का अपव्यय होने लगे। काम-काज में अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार व्यवस्थित रूप से नियत समय पर भी उतना ही करना चाहिए कि, जिससे शरीर में थकावट न आवे और शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता रहे। सारांश यह है कि आठों पहर काम-धंधों में ही न बितावें। नींद साधारणतया रात के समय परिमित अवधि तक लेनी चाहिए, विशेष आवश्यकता के बिना दिन में अथवा असमय में एवं अधिक समय तक नहीं सोना चाहिए। उपवास आदि करके भूखे-प्यासे रहकर खान-पान के त्याग और जागरण करके नींद न लेने से शरीर में शिथिलता और व्याकुलता उत्पन्न होती है तथा विहारों को सर्वथा त्याग देने से चित्त विक्षिप्त रहता है और काम-धंधा छोड़ देने से शरीर-निर्वाह के साधन प्राप्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि इस तरह के त्याग से विषमता और अशांति होती है, अतः ये भी समत्व-योग के बाधक हैं। इसलिए शरीर के सब आहार-विहार आदि उपर्युक्त रीति से नियमित रूप से समुचित परिमाण में करते हुए शरीर की समता बनाये रखकर, नित्य-प्रति नियमपूर्वक नियत समय के लिए सब प्रकार की कामनाओं और ममताओं की लाग-लपेट से रहित होकर योगाभ्यास करना चाहिए। उस समय अन्तःकरण तथा इन्द्रियों की सब चेष्टाओं को रोककर मन को केवल आत्मा अथवा परमात्मा के ध्यान में लगाना चाहिए। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप में अन्तःकरण के चार भाव हैं। मन का स्वभाव अत्यन्त चंचल तथा संकल्प-विकल्प करने का है, बुद्धि का स्वभाव विचार करने, जानने और समझने का है, चित्त का स्वभाव चिन्तन अथवा स्मरण करने का है और अहंकार का स्वभाव व्यक्तित्व का अनुभव करने का है। इनमें से जिस भाव की प्रबलता होती है वह दूसरे भावों को दबा लेता है। अतः मन की चंचलता को बुद्धि अथवा चित्त की क्रिया से दबाना चाहिए, अर्थात् मन को बाहरी विषयों में भटकने से रोकने के लिए बुद्धि से यह विचार करना चाहिए कि बाहरी पदार्थों में उनका अपना सुख कुछ भी नहीं है, किन्तु उनमें जो सुख प्रतीत होता है वह सबके अपने-आप आने का है, इसलिए उनमें आसक्त होना हानिकर है, अथवा चित्त से यह स्मरण करना चाहिए कि सभी बाहरी पदार्थ एक ही आत्मा के अनेक कल्पित रूप हैं। वास्तव में सर्वत्र एक आत्मा ही है, आत्मा से पृथक् इनमें सुख की अवहेलना से दुःख होता है। इस तरह अभ्यास करते-करते जब मन एकत्व-भाव से ठहर जाता है, तब पूर्ण सुख और शांति प्राप्त हो जाती है, जिस सुख-प्राप्ति के आगे संसार के सभी सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। फिर किसी भी पदार्थ के प्राप्त करने की कामना शेष नहीं रहती। उस अवस्था में पहुंचने के बाद फिर दुःख का लेश भी नहीं रहता। उस पूर्णता की स्थिति पर पहुंचा हुआ समत्व-योगी सब भूत-प्राणियों में एक समान अपनी आत्मा समझता है और सबके सुख-दुःख, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि को अपने ही समझता हुआ आत्मौपम्य-बुद्धि से सबके साथ यथायोग्य समता का बर्ताव करता है। उस सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव की स्थिति में अखिल विश्व और ईश्वर अथवा परमात्मा भी आत्मा अर्थात् अपने-आपके ही अनेक भाव प्रतीत होने लगते हैं। अपने आपसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता।

वास्तव में समत्व-योग में मन की पूर्णतया स्थिति होना बहुत ही कठिन और दीर्घ काल के अभ्यास का काम है, अर्थात् एक तरफ जगत् की भिन्नता के बनावों में ममत्व की आसक्ति कम करने और दूसरी तरफ सबकी एकता के भाव में मन को लगाने का अभ्यास निरंतर दीर्घ काल तक करते-करते मनुष्य कई जन्मों में जाकर पूर्णावस्था में पहुंचता है, परन्तु इससे घबराने अथवा हताश होने की कोई बात नहीं है, क्योंकि किसी भी देहधारी का अस्तित्व इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाता। वास्तव में जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तो पूर्व-जन्मों में किये गये शारीरिक एवं मानसिक व्यवहारों और विचारों के संस्कारों को साथ रखता है। यह सिद्धान्त निश्चित है कि यह सब जगत् मन के संकल्पों की रचना है, अतः मनुष्य अपने मन में जो-जो संकल्प करता है उनके संस्कार होते रहते हैं और उनके अनुसार ही वह अपना भविष्य बना लेता है। जब अच्छे संस्कार होते हैं तो एक देह छोड़ने के बाद फिर वह मनुष्य अपने देव आदि की उन्नत देह धारण करता है और यदि बुरे संस्कार होते हैं तो हीन देह धारण करता है। जो समत्व-योग के अभ्यास में लग जाता है, उसे हीन योनि कभी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि समत्व-योग का अभ्यास व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले साम्प्रदायिक कृत्यों की तरह नहीं है कि जिस अन्तःकरण में भेद-भावरूपी मलिनता बढ़ती रहती है और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों से द्वेष करने अथवा दूसरों को कष्ट देने के बुरे संस्कार उत्पन्न होते हैं और जिनसे थोड़े समय के लिए नाशवान् अत: मिथ्या सुख प्राप्त होकर फिर उसका दुष्परिणाम होता है और तब हीन योनियों में जाना पड़ता है। जहां उन्नत्ति करने की कोई योग्यता ही नहीं होती। समत्व-योग के अभ्यास में सबके साथ एकता के साम्य-भाव में मन को लगाना होता है, जिससे वैयक्तिकता का भाव कम होकर अन्त:करण का द्वैत-भावरूपी मैल साफ हो जाता है, तथा इसमें किसी का अहित करने का किसी को क्लेश देने का भाव नहीं होता, इसलिए इसके अभ्यास करने वाले के मन में बुरे संस्कारों का संचय नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए भेद-बुद्धि से किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में शरीर को बहुत क्लेश तथा परिश्रम उठाना पड़ता है, वे कृत्य यदि सांगोपांग पूरे न हो जाएं तो उनका कोई फल नहीं होता। यदि उनमें किसी प्रकार की त्रुटि रह जाय तो उल्टा अनिष्ट होता है। विधि पूर्वक पार पड़ भी जाये तो भी उनका अदृष्ट फल कालान्तर में होता है परन्तु समत्व-योग के अभ्यास में न तो शरीर को क्लेश अथवा परिश्रम होता है, न इसमें त्रुटि रहने से कोई अनिष्ट ही होता है। इसका थोड़ा भी संचरण कभी निष्फल नहीं जाता, न इसके फल के लिए कालान्तर अथवा लोकान्तर अथवा देशान्तर अथवा पूर्णता ही की अपेक्षा रहती है, किन्तु जितना ही समत्व-योग का आचरण होता है, उतना ही आत्मबल एवं उतनी ही सुख-शांति इसी जन्म में ही नहीं किन्तु इसका आचरण करते हुए ही प्राप्त होती रहती है और ज्यों-ज्यों इसमें उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, इसी के अनुसार आत्मबल और सुख-शांति बढ़ती जाती है। उन्नति करते-करते जब पूर्णरूप से सर्वभूतात्मैक्य साम्य-भाव की स्थिति हो जाती है, तब पूर्ण-ब्रह्म पुरुषोत्तम रूप की प्राप्ति हो जाती है। समत्व-योग के अभ्यासी का दूसरा जन्म चाहे उपरोक्त श्रेष्ठाचारी धनियों के घर में हो अथवा ज्ञानी समत्वयोगियों के कुल में हो, वहाँ भी अपने पूर्व-जन्म के योगाभ्यास के संस्कारों की प्रबलता के कारण वह समत्व-योग के अभ्यास ही में प्रयत्नशील रहता हुआ उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है। इस तरह वहां से उन्नति करता हुआ वह समत्व पाकर पूर्ण पद को पहुंच जाता है। सारांश यह है कि समत्व-योग के अभ्यास में एकबार लग जाने पर मनुष्य का इस लोक अथवा परलोक में कहीं भी कभी पतन अथवा अवनति नहीं होती, फिर उत्तरोत्तर उसकी उन्नति ही होती है।

निष्कर्षत: अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणों से कभी सुख और कभी दु:ख की प्राप्ति हो अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रखे और प्रेम रखने वाले लोग मान करें तथा द्वेष रखने वाले अपमान करें एवं कोई निन्दा करें और कोई स्तुति करें, तो इन द्वन्द्वों अथवा जोड़ों को परिवर्तनशील एवं अस्थायी समझकर उनसे अविचलित रहना, इन भावों को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी, अन्योन्याश्रित एवं परिवर्तनशील रूप समझना, सुख के साथ दु:ख, शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व ही रहता है, अर्थात् जहां सुख है वहां दु:ख भी होता है, जहां शत्रु हैं वहां मित्र भी होते हैं, जहां मान हैं वहां अपमान भी होता है और जहां निन्दा है वहां स्तुति भी होती है। प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोड़े हुए विरोधी भाव का होना अनिवार्य है। ये परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए वास्तव में ये एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप हैं—इस तथ्य को अच्छी तरह समझकर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की क्षमता अथवा शांति भंग न करना, जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता है, वही दूसरी परिस्थिति में दु:ख का कारण हो जाता है और जो एक परिस्थिति में दु:ख का कारण होता है वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता है; जो एक परिस्थिति में शत्रु होता है वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता है और जो एक परिस्थिति में मित्र होता है वही दूसरी परिस्थिति में शत्रु हो जाता है; जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते हैं, वो ही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते हैं और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते हैं, वही दूसरी परिस्थिति में अपमान और निन्दा करने लग जाते हैं। इसलिए इन विरोधी भावों को तथ्यहीन समझकर अपनी योग्यता से सांसारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य करने में इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर अन्त:करण की समता बनाए रखना-यह वास्तविक समत्व योग है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा के भक्त अर्थात् समत्वयोगी को सुख-दु:ख, मान-अपमान आदि की वेदनाएँ प्रतीत ही नहीं होती, अथवा उसे सुख की अनुकूलता और उसकी प्रतिकूलता का कुछ अनुभव ही नहीं होता अथवा वह सुख की प्राप्ति एवं दु:ख की निवृत्ति के लिए कोई यत्न ही नहीं करता। शरीर को सदा कष्ट में रखता है तथा वह शत्रु और मित्र के साथ एकसा बर्ताव करता है और मान एवं स्तुति तथा अपमान एवं निन्दा को एकसा समझकर ऐसे आचरण करता है जिनसे अपमान और निन्दा भले ही होवे, वह उनकी परवाह नहीं करता है। ऐसा करना समत्व नहीं है, किन्तु बड़ी भारी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विषमता का भाव है। सुख-दु:ख, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्व शरीर के साथ सम्बंध रखते हैं, अत: इनकी वेदना जितनी साधारण लोगों के शरीर में होती है, उतनी ही परमात्मा के भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्व योगी के शरीर में भी होती है, क्योंकि शरीर सबका उन्हीं पंच तत्वों का बना हुआ होता है। परन्तु परमात्मा का भक्त अथवा आत्मज्ञानी समत्वयोगी तात्त्विक विचार कर इन द्वन्द्वों अथवा विरोधी भावों के जोड़ों की वास्तविकता का ज्ञान रखता है इसलिए वह इनसे प्रभावित होकर अपने कर्त्तव्यों से विचलित नहीं होता है और न उसके अन्त:करण में अशांति ही उत्पन्न होती है। उसे सदा ध्यान रहता है कि यह सब संसार द्वन्द्वों अर्थात् परस्पर विरोधी भावों व जोड़ों का बनाव है इसलिये जिस समय जो भाव उपस्थित हो, उसी के अनुरूप शारीरिक व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी उसके अन्त:करण में सबकी एकता का साम्यभाव बना रहता है। सुख की प्राप्ति होने पर उसका यथायोग्य उपभोग करते हुए भी वह उसमें तल्लीन नहीं होता। दु:ख की प्राप्ति होने पर उसे सहन करते हुए भी उसके अन्त:करण में व्याकुलता नहीं होती है। शत्रु के साथ मित्रता का बर्ताव करते हुए भी वह उसके साथ व्यक्तिगत प्रेम के साथ में आसक्त नहीं होता। मान और स्तुति का आदर करते हुए भी उनसे अति प्रसन्न नहीं हो जाता तथा अपमान और निन्दा को हेय समझते हुए भी उसके अन्त:करण में उद्वेग नहीं होता। यह समत्व योग का वास्तविक रूप है।

3.3.10 दण्ड एवं अहिंसा

मानव सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। समस्त सृष्टि को यदि मनुष्यों का अजायबघर कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में अलग-अलग प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। जन्मजात विशेषताओं के कारण भी व्यक्तियों में भिन्नता पाई जाती है। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति बुद्धिमान होते हैं, तो कुछ मूर्ख, कुछ व्यक्ति बलवान होते हैं तो कुछ निर्बल। मानव की यह मूलभूत भिन्नता उन्हें भिन्न-भिन्न कार्यों को सम्पादित करने की प्रेरणा देती है। स्वभाव में भिन्नता के कारण सभी व्यक्ति अपने कार्यों का स्वाभावानुकूल भोग नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिए एक बलवान व्यक्ति से पीड़ित निर्बल व्यक्ति स्वभावानुकूल अपने भोग को नहीं भोग पाता है और वह बलवान् व्यक्ति भी अपने से बलवान किसी दूसरे व्यक्ति से पीड़ित होकर अपने भोग को अच्छी तरह नहीं भोग पाता है। सभी व्यक्तियों द्वारा स्वाभावानुकूल अपने-अपने फलों को न भोगने का परिणाम यह होता है कि सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती है। यह सामाजिक अव्यवस्था समाज की प्रगति को रोक देती है तथा सामाजिक विघटन के लिए आधार प्रस्तुत करती है। समाज से अव्यवस्था को समाप्त करने, सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने और सबको समान न्याय दिलाने के उद्देश्य से प्रकृति, राज्य और समुदाय ने जो नियम, कानून और व्यवस्था की स्थापना की है, इसकी रक्षा के लिए जिस विधि का समाज उपयोग करता है, संक्षेप में उसे ही 'दण्ड' कहा जा सकता है।

अपराध और दण्ड समाज की अविच्छिन्न घटनाएँ हैं। ऐसा कोई भी मानव-समाज नहीं है, जहाँ अपराध, अपराधियों और दण्ड का अस्तित्त्व न हो। अपराध और दण्ड की अनिवार्यता ने विद्वानों को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि आखिर अपराधी को दण्ड क्यों दिया जाता है? समाज में दण्ड का क्या महत्त्व है? दण्ड मानव-समाज में किस उद्देश्य से दिया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि आदिकाल से लेकर आज तक अपराध ा और दण्ड की अवधारणा में परिवर्तन होते रहे हैं। प्रत्येक काल और परिस्थिति में विद्वानों ने दण्ड की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। इसके साथ ही इन विद्वानों ने दण्ड की प्रकृति, मात्रा और प्रकार के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए दण्ड की प्रकृति, मात्रा और स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें 'दण्ड के सिद्धान्त' (Theories of punishment) के नाम से जाना जाता है। दण्डशास्त्र के क्षेत्र में जिन प्रमुख सिद्धान्तों का जन्म हुआ, उनके मूल में दण्ड के उद्देश्य की भावना ही प्रबल थी। दण्ड के प्रमुख सिद्धान्तों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है।

3.3.11 दण्ड के सिद्धान्त (Theories of Punishment)

3.3.11.1 प्रायश्चित का सिद्धान्त (Theory of Expiation) — दण्ड का प्रायश्चित-सिद्धान्त धार्मिक भावना पर आधारित है। अपराध कानून का उल्लंघन है किन्तु धार्मिक दृष्टि से अपराध पाप है और ऐसा विश्वास किया जाता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कि अपराध करने वाला व्यक्ति पाप करता है और पाप का प्रायश्चित व्यक्ति को करना ही पड़ता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

जो व्यक्ति पुण्य करता है उसको अच्छा फल और जो पाप करते हैं उनको विभिन्न प्रकार से दण्ड देते हैं। धार्मिक लागों का विश्वास है कि भगवान जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। अत: भगवान् के द्वारा जो दण्ड दिया गया है, वह भी उचित ही होता है।

3.3.11.2 प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory) — प्रतिशोध को दूसरे शब्दों में 'उचित दण्ड' (just punishment) कहा जा सकता है अर्थात् जिस व्यक्ति ने जैसा किया है, उसे उसी प्रकार का दण्ड दिया जाना चाहिए। दण्ड के इस सिद्धान्त का समर्थक जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) था। उसका विश्वास है कि संसार में 'कर्त्तव्य' सर्वोच्च वस्तु है और इस कर्त्तव्य के अनुसार उसे अधिकार मिलना ही चाहिए। यदि व्यक्ति खराब कार्य (अपराध) करता है तो दण्ड उसका अधिकार है जो उसे मिलना ही चाहिए। यह दण्ड, जो दिया जाए, तभी उचित होगा जबकि अपराध के अनुरूप हो। समाज जो दण्ड देता है वह उसके अधिकार का अपरहण नहीं करता है, बल्कि जो उसे मिलना चाहिए, जो वह कमा चुका है, उसे उसी का फल मिलता है। पर्शिया के राजा हम्मुराबी ने इसी भावना से प्रभावित होकर 'जैसे को तैसा' (An eye for an eye and a teeth for a teeth) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। हम्मुराबी का यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतिशोध और नैतिक न्याय की भावना पर आधारित है।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री सेथना ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ''दण्ड का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त नैतिक न्याय की संतुष्टि पर आधारित है।'' सद् का परिणाम सद् और असद् का परिणाम असद् ही इस प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की आधारशिला है। जहाँ तक सेथना के विचारों का सम्बन्ध है, वे प्रतिशोध को बदला से अलग करते हैं — प्रतिशोध बदला नहीं है। बदला दण्ड के विकास की पहली अवस्था है, जिसमें व्यक्ति को प्रतिशोध से भी अधिक अपने अधिकारों का हनन करना पड़ता था। यदि प्रतिशोध को बदले के सिद्धान्त के अर्थ में समझा जाता है तो यह अमान्य है। प्रतिशोध के शुद्ध अर्थों में बदले का विचार नहीं रहता है। सेथना का विचार है कि ''यह प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त है, जैसा कि इसे समझना चाहिए, न कि एक बदले का सिद्धान्त, जैसा कि बहुधा इसे समझा गया है।''

प्रतिशोधन का तात्पर्य मात्र बदला लेना नहीं है, बल्कि कानून की शक्ति को निर्दोष बनाए रखने के लिए दण्ड देना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। ऐसा करने से ही समाज से अपराधों का निवारण हो सकता है और प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त का मौलिक उद्देश्य समान न्याय और व्यवस्था है। प्रतिशोध प्राकृतिक अपराध के दुष्परिणामों के भय से दुबारा अपराध नहीं करता और तार्किक दृष्टि से यदि उसने अपराध किया है तो इसका परिणाम तो उसे भोगना ही चाहिए।

3.3.11.3 प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory) — प्रतिरोधात्मक शब्द प्रतिरोध से बना है। प्रतिरोध शब्द अंग्रेजी के 'डिटरेण्ट' (Deterrent) का हिन्दी अनुवाद है। शाब्दिक दृष्टि से 'डिटरेण्ट' का अर्थ है — हतोत्साह करने वाला। डिटरेण्ट का सरल अर्थ होता है — रोकना, रास्ते पर रोक लगा देना ताकि चलने वाला उस रास्ते से न चल सके। सीधे शब्दों में समाज के द्वारा उन व्यक्तियों पर रोक लगाना जो गलत रास्तों पर चलकर समाज को हानि या चोट पहुँचाते हैं।

दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त कठोर दण्ड पर आधारित है। यदि अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाएगा तो वे पुन: अपराध नहीं करेंगे। दण्ड की कठोरता से समाज को दो फायदे होंगे —

1. दण्ड की कठोरता के कारण व्यक्ति भविष्य में कभी भी अपराध करने की ओर उन्मुख होने का साहस नहीं करेगा।

2. दण्ड कठोर होने के कारण समाज के अन्य व्यक्ति भी अपराध की ओर अग्रसर नहीं होंगे।

इस प्रकार दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त समाज के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करता है ताकि लोग इससे भयभीत होकर भविष्य में कभी अपराध न करें। इस सिद्धान्त में भय के तत्त्व (element of fear) को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यह भय व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3.11.4 निरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive Theory)—निरोधात्मक (Preventive) शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। प्रिवेण्टिव 'प्रिवेण्ट' (Prevent) शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—रोकना। प्रिवेण्टिव का सरल अर्थ होता है—'रोकने वाला'। इस प्रकार निरोधात्मक सिद्धान्त का अर्थ हुआ 'रोकने वाला सिद्धान्त'। किसको रोकना और कहाँ रोकना? इस सिद्धान्त के सामने दो मौलिक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के निम्न उत्तर हैं—

1. अपराधियों को रोकना; और
2. समाज से रोकना अर्थात् अपराधियों को समाज से अलग रखना।

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, अपराधियों को अपराध करने से नहीं रोका जा सकता है। जब अपराधियों को अपराध करने से नहीं रोका जा सकता है तो सरल तरीका यह है कि अपराधियों को समाज से अलग रखा जाए। अपराधियों को समाज से अलग रखने के दो तरीके हैं—

1. कारावास या जेल (Imprisonment); और
2. प्राणदण्ड (Capital Punishment)।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि समाज को अपराध विहीन रखने का एक ही तरीका है कि अपराधियों को प्राणदण्ड दे दिया जाए या उन्हें समाज से अलग रखा जाए। यह सिद्धान्त तब स्वीकार किया गया जब प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त असफल हो गया। इस सिद्धान्त के समर्थकों के अनुसार अपराध का कारण व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ और वंशानुक्रमण हैं। इन्हें बदला नहीं जा सकता है। अत: अपराध करने से व्यक्ति को रोका नहीं जा सकता है। अपराध विहीन समाज के लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि या तो अपराधियों को प्राणदण्ड दे दिया जाए या फिर उनको समाज से अलग जेल में रखा जाए।

5. सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—प्रतिशोध, प्रतिरोध और निरोध सिद्धान्त समाज में अपराधों की संख्या में कमी नहीं कर सके। जैसे-जैसे नये सिद्धान्त आते गए, अपराध कम होने की अपेक्षा बढ़ते ही गए। अपराध के उपर्युक्त सभी सिद्धान्त अपराध और दण्ड की एकपक्षीय व्याख्या ही करते हैं। सुधारात्मक सिद्धान्त अपराध की व्याख्या दूसरे ढ़ंग से करता है।

सुधारात्मक सिद्धान्त की मौलिक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. सुधारात्मक सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ और वंशानुक्रमण अपराध के कारण नहीं हैं, बल्कि समाज का वातावरण अपराध के लिए जिम्मेदार है, न कि व्यक्ति।
2. इसलिए अपराध के कारणों की खोज सामाजिक वातावरण में की जानी चाहिए, व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं में नहीं।
3. अभी तक अपराध पर ज्यादा ध्यान दिया जाता था और अपराधी पर कम। सुधारात्मक सिद्धान्त के द्वारा अपराध की अपेक्षा अपराधी पर अधिक ध्यान दिया जाता है।
4. गलती मनुष्य से ही होती है और गलती की इतनी बड़ी सजा देना मनुष्य के प्रति न्याय नहीं है। इस प्रकार सुधारात्मक सिद्धान्त के द्वारा मनुष्य को अधिक-से-अधिक न्याय दिलाने का प्रयास किया गया है।
5. सुधारात्मक सिद्धान्त अपराध को बीमारी मानता है। जिस प्रकार बीमारी का निदान हो सकता है, उसी प्रकार अपराध का भी निदान हो सकता है।
6. सुधारात्मक सिद्धान्त महान् मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित है। मनुष्य के ही द्वारा मनुष्य को इतनी बड़ी सजा देना मानवता के विरुद्ध है।
7. प्रशिक्षण के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और प्रशिक्षण के द्वारा अपराधों की संख्या में भी कमी की जा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8. परिवार, पड़ोस, समुदाय और समाज के वातावरण के सुधार पर बल देता है।

9. नैतिकता के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और ऐसी आशा की गई है कि नैतिकता के माध्यम से अपराधों की संख्या में भी कमी लाई जा सकती है।

9. प्राणदण्ड की अपेक्षा सुधारात्मक सिद्धान्त में कारावास के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

10. अपराध के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देता है।

इस प्रकार सुधारात्मक सिद्धान्त में निरर्थक दण्ड को अस्वीकार किया गया है क्योंकि इससे कोई परिणाम भी नहीं निकाल सकते हैं। बाइबिल में भी सुधारात्मक सिद्धान्त की वकालत की गई है और लिखा है कि ''वे धन्य हैं, जो अपराधी को नष्ट करने के स्थान में सुधारते हैं। वे धन्य हैं, जो एक पापी व्यक्ति को एक गुणी व्यक्ति में बदल देते हैं।

सुधारात्मक सिद्धान्त दो बातों पर विशेष बल देता है—

1. अपराधियों का सुधार किया जाए और उन्हें समाज के योग्य नागरिक की भाँति जीना और जीने देने का पाठ सिखाया जाए।

2. समाज के वातावरण का सुधार किया जाए क्योंकि इससे ही अपराधों का जन्म होता है।

3.4 भारत में दण्ड का इतिहास

भारतवर्ष में दण्ड-व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करना होगा। प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित सामाजिक दशा और रहन-सहन के आधार पर भी उस युग की दण्ड और न्याय-व्यवस्था को जाना जा सकता है। संक्षेप में भारतवर्ष में दण्ड-व्यवस्था के इतिहास का अध्ययन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

3.4.1 वैदिक युग

भारतीय संस्कृति के आधार वेद हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और सामवेद। ऋग्वेद इन सभी वेदों में प्राचीनतम है। ऋग्वेद की रचना कब हुई, ऋग्वैदिक सभ्यता के विकास का समय कौन-सा था—इस सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक धारणाएँ हैं। किन्तु इतना सत्य है कि ऋग्वेद विश्व का सबसे बड़ा प्राचीनतम ग्रन्थ है। ऋग्वेद से भारत के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। वैदिक काल में न्याय को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी। राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। राजा की सहायता के लिए अनेक पदाधिकारी होते थे। ये पदाधिकारी न्याय के विद्वान् होते थे और न्याय के मामलों में इन्हें महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। राजा के द्वारा ही कानूनों का निर्माण होता था। कानून निर्माण के समय राजा अपनी प्रजा का विशेष ध्यान रखता था।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सामाजिक जीवन अत्यन्त ही संगठित था। इसलिए समाज-विरोधी कार्यों की मात्रा भी न्यून थी। फिर भी चोरी, डकैती और सेंध जैसे अपराधों का वर्णन है। अन्य प्रकार के अपराधों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। इन अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी किन्तु दण्ड कठोर नहीं थे। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक युग में भी दण्ड था। इतना निश्चित है कि अपराधों का विशेषीकरण नहीं हुआ था, इसलिए दण्ड और न्याय-व्यवस्था को भी व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त नहीं था।

3.4.2 पूर्व-बौद्धिक युग

पूर्व-बौद्धिक युग में न्याय राज्य का मौलिक कर्त्तव्य था। इस युग में न्याय को अत्यधिक महत्ता प्रदान की जाती थी। न्याय का आधार राज्य-व्यवस्था थी और काफी सोच-विचार के बाद न्याय की घोषणा की जाती थी। दण्ड अपराधी की प्रकृति के आधार पर दिया जाता था। दूसरे शब्दों में न तो दण्ड ज्यादा दिया जाता था और न कम ही दिया जाता था, लेकिन इसके बाद भी न्यायिक व्यवस्था पर्याप्त नहीं थी। राजा प्रमुख न्यायाधीश होता था। वह प्रत्येक दिन प्रातः मुकदमों की सुनवाई करता था। राजा की अनुपस्थिति में उसके द्वारा नियुक्त मंत्री मुकदमों की सुनवाई करता था। जो फैसले धार्मिक तथा प्रशंसा के योग्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होते थे, उन्हें स्वर्ण-पत्रों पर छपवा दिया जाता था। साधारण फैसले भी छपवा दिए जाते थे। कानूनों का निर्माण तो विकास की प्रक्रिया में हुआ। न्यायाधीश अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से फैसलों की सुनवाई करते थे। जहाँ तक पूर्व-बौद्धिक युग का प्रश्न है, छोटी-मोटी चोरी या लूट ही सामान्य थे। दूसरे शब्दों में अन्य अपराधों की तुलना में आर्थिक अपराध अधिक होते थे। दण्ड अनेक प्रकार के थे। कुछ दण्ड तो अत्यन्त कठोर थे जबकि अनेक दण्ड ऐसे भी थे, जिनका कोई विशेष अर्थ ही नहीं होता था। दण्ड में मुआवजा या क्षतिपूर्ति को भी स्थान दिया जाता था। जो प्रमुख दण्ड होते थे, वे इस प्रकार हैं—1. जुर्माना; 2. कोड़े मारना; 3. जेल; 4. अंग-भंग करना; 5. अपहरण और 6. देश-निष्कासन।

पूर्व-बौद्धिक काल में अपराधियों की परीक्षा ली जाती थी। सामान्यतया यह परीक्षा जल या अग्नि के माध्यम से होती थी। सामान्य अपराधों में परीक्षा को स्थान नहीं दिया जाता था। शराबी व्यक्ति को जुर्माना किया जाता था। बलात्कार करने वाले के लिए मृत्युदण्ड तक की व्यवस्था थी।

3.4.3 स्मृति-युग

भारतीय दण्ड-व्यवस्था के विकास में स्मृतियों का सर्वाधिक महत्त्व है। स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है। मनुस्मृति मानव-धर्मशास्त्र है। मानव धर्मशास्त्र का अर्थ वह शास्त्र है, जिसमें मानव-धर्म का अध्ययन किया गया हो। मनुस्मृति में सामाजिक व्यवस्था के वर्णन में 'समाजशास्त्र' (Sociology), इस सामाजिक व्यवस्था के उल्लंघन में 'अपराधशास्त्र' (Criminology) और अपराधियों को दण्ड देकर पुनः सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से बनाए रखने के लिए 'दण्डशास्त्र' (Penology) की व्यवस्था की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति ही एक ऐसा शास्त्र है, जिसके अन्तर्गत एक साथ समाजशास्त्र, अपराधशास्त्र और दण्डशास्त्र की व्याख्या की गई है।

मनुस्मृति में दण्ड की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की गई है—

''राजधर्म के पालन के लिए सृष्टि में ईश्वर ने दण्ड विधान को बनाया है।''

''दण्ड के भय से स्थावर और जंगम सभी जीव अपने-अपने भोग को भोगने के लिए समर्थ होते हैं और अपने-अपने धर्म से विचलित या पथ-भ्रष्ट नहीं होते हैं।''

''दण्ड ही सब प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही सब प्रजाओं की रक्षा करता है। सब के सोते रहने पर दण्ड ही जागता रहता है क्योंकि दण्ड के भय से ही चोर आदि चोरी तथा अन्य दुष्कर्म नहीं करते हैं। विद्वान् लोग इसीलिए दण्ड को धर्म कहते हैं।''

इस प्रकार मनुस्मृति में दण्ड के अन्य प्रकारों तथा इसकी उपयोगिता की व्याख्या की गई है। मनुस्मृति में सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या में समाजशास्त्र, इस व्यवस्था के उल्लंघन में अपराधशास्त्र और इस व्यवस्था की रक्षा में दण्डशास्त्र के दर्शन एक साथ किए जा सकते हैं।

मनुस्मृति में दण्ड-व्यवस्था—मनु ने जो दण्ड की व्यवस्था प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है

1. असहाय, मूर्ख, लोभी, अज्ञानी और आसक्त व्यक्ति दण्ड का उचित प्रयोग नहीं कर सकते हैं।
2. शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्र के अनुसार व्यवहार करने वाला, अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान व्यक्ति ही दण्ड का उचित प्रयोग कर सकते हैं।
3. जो अधिकारी घूसखोर हैं, राजा उनका सर्वस्व छीनकर उन्हें राज्य से बाहर निकाल दे।
4. राजा न्याय के कार्य में धर्मात्मा व्यक्ति को नियुक्त करे और धर्म के आधार पर अपराधी को दण्ड दे।
5. चोरी करने वाले व्यक्तियों को राजा हाथी से मरवा डाले।
6. बार-बार असत्य गवाही देने वाले व्यक्तियों को राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए।
7. दण्ड के नौ स्थान हैं—पेट, जीभ, हाथ, पैर, नेत्र, कान, धन, देह और उपस्थ।
8. दण्ड देते समय अपराध की प्रकृति और उसकी गम्भीरता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।
9. गुणी व्यक्तियों के अपराध करने पर पहली बार उन्हें चेतावनी दी जाए, दूसरी बार उन्हें धिक्कारा जाए, तीसरी बार अपराध करने पर आर्थिक दण्ड और चौथी बार अपराध करने पर बेंत या कोड़े से मारना, अंग-भंग करना या प्राणदण्ड देना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10. जो व्यक्ति छल-कपट से दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करे उसे बेंत और कोड़े से मारना तथा अंग-भंग करना चाहिए।
11. मिलावटी वस्तु बेचने वालों के लिए भी दण्ड का विधान है।
12. कुएँ की रस्सी, घड़ा चुराने पर अपराधी को एक माशा सोने से दण्डित करना चाहिए।
13. सुवर्ण, वस्त्र आदि की चोरी करने वाले को प्राणदण्ड की सजा का विधान है।
14. स्त्रियों की चोरी करने वाले को प्राणदण्ड की सजा दी जानी चाहिए।
15. सामान्य वस्तुओं की चोरी करने पर चुराई गई वस्तु का दुगुना दण्ड चोर को देना चाहिए।
16. पर-स्त्री सम्भोग करने वाले व्यक्ति का नाक, कान या ओठ कटवाकर उसे देश से निकाल देना चाहिए।
17. जो स्त्री पिता संरक्षकों से अधिक धनी होने अथवा अपने सौन्दर्य के अभिमान से पर-पुरुष के साथ संगति करके अपने पति का अपमान करे, उसे राजा सबके सामने कुत्तों से कटवाए।
18. ब्राह्मण का मुण्डन ही प्राणदण्ड है।
19. माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि का त्याग करने वाले को राजा 600 पण से दण्डित करे।
20. जो स्त्री मना करने पर भी मद्य का सेवन करे तथा सार्वजनिक नाच और गायन करे, उसे 6 रत्ती सोने से दण्डित किया जाए।
21. जुआ खेलने वाले व्यक्ति को राजा अपनी इच्छा के अनुसार दण्ड दे।
22. कपटपूर्वक राजाज्ञा लिखने वाले को प्राणदण्ड की सजा दी जानी चाहिए।
23. राजकोष में चोरी करने वाले को हाथ, पैर, जीभ कटवाकर प्राणदण्ड से दण्डित करे।
24. सेंध लगाने वाले का हाथ कटवाकर तेज शूली पर चढ़ा दे।
25. गिरहकट करने वाले की अंगुलियाँ काट ली जाएँ।
26. यदि सुनार सोने की चोरी करे तो राजा उसके शरीर की बोटी-बोटी कटवा दे।
27. खेती के औजार चुराने पर औजारों की उपयोगिता के आधार पर दण्ड दिया जाना चाहिए।
28. जो व्यक्ति चोरों में सहायक हों तो उन्हें भी चोरों के समान ही दण्ड दिया जाना चाहिए।
29. सीमारक्षक यदि चोरी में सहायक हों तो उन्हें भी चोरों के समान ही दण्ड दिया जाना चाहिए।
30. अपराध करने के बाद जो प्रायश्चित न करे अपराध तथा धर्म के अनुसार दण्ड दिया जाए।

3.4.4 अन्य भारतीय मत

भारत में दण्ड-व्यवस्था का विकास भारत की अत्यन्त प्राचीन दो प्रथाओं के आधार पर हुआ है, जो इस प्रकार है—

1. मुआवजे के रूप में दूसरे शब्दों में क्षतिपूर्ति के रूप में, और
2. धार्मिक अपराधों के लिए तपस्या।

सुविधा की दृष्टि से इसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

सूत्र साहित्य—प्राचीन युग में सूत्रों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि हत्या के अपराध के लिए जुर्माने का दण्ड था। क्षत्रिय की हत्या करने वाले को 100 गाएँ, वैश्य की हत्या करने वाले को 100 गाएँ और शूद्र की हत्या करने वाले को 10 गाएँ जुर्माने के रूप में देनी पड़ती थीं। गाएँ पहले राजा को दी जाती थीं, राजा उन गायों को मृत व्यक्ति के सम्बन्धियों को दे देता था। जुर्माना बाद में पैसों के रूप में किया जाने लगा, जो एक ताँबे के सिक्के से लेकर सम्पूर्ण सम्पत्ति तक सीमित हो गया। जुर्मानों के द्वारा राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। जुर्माना न अदा करने वाले व्यक्ति को कुछ-न-कुछ परिश्रम करना पड़ता था।

सूत्र साहित्यों से ऐसा ज्ञात होता है कि न्यायाधीश राजा ही होता था। अपराधी राजा के सम्मुख अपने कार्यों के लिए लाया जाता था। हत्या के साथ चोरी और लूट दो प्रकार के आर्थिक अपराध पाए जाते थे। बृहस्पति ने चार प्रकार के अपराधों का वर्णन किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. हत्या या पितृहत्या।

2. चोरी के दो रूप पाए जाते थे—

(अ) छिपे रूप में चोरी करना; और

(ब) खुलेआम चोरी करना, जिसे आधुनिक युग में डाका डालना भी कहते हैं।

3. दूसरे पर आक्रमण करना।

4. दूसरे को चोट पहुँचाना।

कठिन परीक्षा द्वारा अपराधों का निर्धारण—मनुस्मृति और सूत्र साहित्य दोनों में ही अपराधों का निर्धारण कठिन परीक्षाओं के द्वारा किया जाता है। मनु ने अग्नि और पानी दोनों को कठिन परीक्षाओं का आधार बताया है। कठिन परीक्षाओं के अनेक आधार हैं, जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

1. धर्म—धर्म के द्वारा कठिन परीक्षा में पीपल के दो पत्ते लिये जाते थे। एक पत्ता सत्य (न्याय) का प्रतीक होता था जबकि दूसरा असत्य (असत्य) का प्रतीक। सत्य के प्रतीक वाले पत्तों को सफेद और असत्य के प्रतीक वाले पत्ते को काले रंग से रंग दिया जाता था। दोनों पत्तों को एक घड़े में छोड़ दिया जाता था। अब अपराधी से एक पत्ता निकालने के लिए कहा जाता था। यदि अपराधी सफेद पत्ता निकालता था तो उसे निर्दोष और यदि काला पत्ता निकालता था तो उसे दोषी या अपराधी घोषित कर दिया जाता था।

2. जल—जल के द्वारा की जाने वाली परीक्षा में अपराधी को पानी में फेंक दिया जाता था, यदि वह पानी में डूबा न रहा तो उसे निरपराध घोषित कर दिया जाता था।

3. सन्तुलन—सन्तुलन के द्वारा की जाने वाली परीक्षा में अपराधी को दो बार तोला जाता था। यदि उसके वजन में अन्तर पाया गया तो उसे अपराधी घोषित किया जाता था।

4. अग्नि—अग्नि के द्वारा की जाने वाली परीक्षा में अपराधी अग्नि की परिक्रमा करता था। अपराधी को सोने की गरम शलाका को छूने के लिए कहा जाता था। यदि व्यक्ति नहीं जलता था तो उसे निरपराध घोषित कर दिया जाता था।

5. जहर—जहर के द्वारा की जाने वाली परीक्षा में अपराधी को विष या जहर खिलाया जाता था। यदि व्यक्ति निर्दोष होता था तो वह नहीं मरता था और यदि वह अपराधी होता था तो उसकी मृत्यु हो जाती थी।

बलात्कार सबसे बड़ा अपराध माना जाता था और सिद्धान्त के तौर पर इसके लिए प्राणदण्ड का विधान था। किन्तु इसका व्यावहारिक पक्ष कुछ और ही था। पुरुष भारी जुर्माने से दण्डित किए जाते थे; अपराधी स्त्रियाँ सिर मुँडाकर छोड़ दी जाती थीं। यदि दास ऊँचे कुल की औरत के साथ बलात्कार करता था तो उसे प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। यदि वैश्य अपने से ऊँचे कुल की औरत के साथ बलात्कार करता था तो उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी।

6. क्षमा—प्राणदण्ड प्राप्त अपराधियों को क्षमादान की भी व्यवस्था थी। प्राण्दण्ड प्राप्त अपराधी दो प्रकार से क्षमादान प्राप्त कर सकता था

1. राजा के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालकर; या

2. युद्ध में तीन बार सफलतापूर्वक लड़कर।

3.4.5 कौटिल्य का चिन्तन

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की संस्कृति पर अच्छा प्रकाश डाला है। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय अनेक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। झगड़े में यदि घायल व्यक्ति की 7 दिन के अन्दर मृत्यु हो जाती थी, तो भी दूसरे व्यक्ति को प्राणदण्ड की सजा दी जाती थी। यदि कोई अफवाह फैलाता था; किसी का मकान नष्ट करता था, राजा के हाथी या घोड़े चुराता था तो उसके लिए भी प्राणदण्ड की सजा का विधान था। जो राजा के खिलाफ षड्यन्त्र रचता था, राजा के खजाने या अन्त:पुर में जबरदस्ती प्रवेश करता था, शत्रुओं की सहायता करता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

था, सेना में असन्तोष पैदा करता था, माता-पिता, भाई-बहन या परिवार के अन्य व्यक्तियों की हत्या करता था, उसे जिन्दा जला दिया जाता था। जो व्यक्ति जान-बूझकर किसी का बाँध तोड़ता था, उसे उसी बाँध में डुबा दिया जाता था। जो स्त्री अपने पति या पुत्रों की हत्या करती थी, उसे साँड से फड़वा दिया जाता था। यदि नागरिक सैनिक वस्तुओं की चोरी करते थे तो उन्हें बाण से मार डाला जाता था। यौन-अपराधों के लिए गम्भीर दण्ड की व्यवस्था नहीं थी। राजा स्वयं सबसे प्रधान न्यायाधीश होता था। पाटलिपुत्र में उच्चतम न्यायालय था, जहाँ पर अन्तिम अपीलों की सुनवाई होती थी। नगरों और जनपदों में अलग-अलग न्यायाधीश थे। जनपद न्यायाधीशों को राजुक कहा जाता राजद्रोह और फौजदारी गम्भीर अपराध माने जाते थे। प्रमुख रूप से दण्ड के स्वरूपों को 6 भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **धिक्कार**—जिसमें अपराधी की निन्दा की जाती थी।
2. **अर्थदण्ड**—जिसमें अपराधी को जुर्माना किया जाता था।
3. **बन्धन**—जिसमें अपराधी को जेल में रखा जाता था।
4. **अंग-भंग**—जिसमें अपराधी को अंग-भंग किया जाता था।
5. **निर्वासन**—जिसमें अपराधी को देश से बाहर निकाल दिया जाता था।
6. **प्राणदण्ड**—जिसमें अपराधी को मौत की सजा दी जाती थी।

3.4.6 अशोक

अशोक के बारे में जैसा कि कहा जाता है, वह अत्यन्त ही न्यायप्रिय राजा था। अशोक ने अपने शासनकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण न्याय सम्बन्धी निर्णय किए थे। अशोक के समय में जेलों में अपराधियों को कठोर सजा दी जाती थी और ऐसा कहा जाता था कि जो इन जेलों में जाते थे, दुबारा जिन्दा नहीं लौटते थे। जेल की सजा सामान्य दण्ड था और सभी अपराधों में इसका प्रयोग किया जाता था। अनेक अपराधों के लिए अंग-भंग करने और पीड़ा पहुँचाने का विधान था।

3.4.7 दण्ड संबंधी दृष्टिकोण : महाभारत

महाभारत में दण्ड संबंधी चिन्तन की विस्तृत व्याख्या शांतिपर्व नामक अध्याय में मिलती है, जिसमें धर्म (अहिंसा) स्थापना हेतु दण्ड तथा प्रायश्चित दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दण्डनीति का उद्देश्य लोकस्थिति—प्रजा ही राज्य का मूल है, अतः प्रजारक्षण राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। मनुष्य मात्र काम-क्रोध आदि शत्रुओं की ताड़नावश समय-समय पर अन्याय या दुष्कर्म करता है, लोकस्थिति के निमित्त शासन आवश्यक है। शासन का उद्देश्य है—राष्ट्ररक्षा। दण्डनीति का दूसरा नाम पालन विद्या है। महाभारत में विद्यास्थान का निर्देश करते हुए दण्डनीति को भी लिया है।

व्यवहार, प्राग्वचन आदि पर्यायवाची शब्द—दंडनीति द्वारा संसार में पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा बताई है, अतः दंडनीति की प्रयोजनीयता के बारे में मतान्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। कहा जाता है कि दंड के उचित प्रयोग से प्रजा रक्षित रहती है; दंड का उद्देश्य केवल आधिपत्य-विस्तार नहीं है, रक्षण भी है। दंड को धर्म भी कहा गया है और व्यवहार तथा प्राग्वचन शब्द भी दण्ड के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। दंड को देवता एवं अग्नि सदृश अतिशय तेजस्वी बताया है।

दण्डाधिष्ठाता देवता—दण्ड का अधिष्ठाता एक देव बताया है, जिसकी आकृति के संबंध में कहा गया है कि, दण्ड नीलोत्पल सदृश श्यामवर्ण, चतुर्दष्ट, चतुर्भुज, अष्टपाद, बहुनेत्र, शंकुकर्ण, ऊर्ध्वरोमवान्, जटी, द्विजिह्व, ताम्रास्य तथा मृगाराजतनुच्छद होता है।

दण्डधर्म या व्यवहार—रूपक रूप में प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दों की टीकाकार नीलकंठ ने विस्तृत व्याख्या की है। उसका अनुवाद इस प्रकार है—''शब्दों का मूल अर्थ लेकर यदि दण्डधर्म व्यवहार अर्थात् न्यायप्रणाली की ओर दृष्टिपात किया जाए तो मानना पड़ेगा कि दण्ड संहार की मूर्ति है। दण्डनीय व्यक्ति राजा का न्यायाधीश के सही स्वरूप और कर्त्तव्यानुसार ते वह अपराधी को राग और द्वेष से रहित होकर उसके अपराध की सघनता अनुसार ही दण्ड देता है। विद्वेष पात्र होता है, राजा उसका धन अपहरण कर लेता है। अतः विद्वेष की मलिनता एवं ग्रहण की रक्तिका दण्ड में मिलकर उसे नीललोहित वर्ण से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रंजित कर देती है। दण्ड द्वारा अपराधी को जो सजा दी जाती है, उसे चार दाँतों की उपमा दी जा सकती है। यथा—मानभंग, धनहरण, अंगवैकल्य तथा प्राणनाश। प्रजा एवं सामंत राजाओं से कर लेना, न्यायप्रार्थी वादी के झूठा साबित होने पर दुगुना जुर्माना लेना, प्रतिवादी के झूठा साबित होने पर उससे धन लेना, धनवान कृपण ब्राह्मण की सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण करना, इन चार कर्मों के लिए दण्ड की चतुर्भुज के रूप में कल्पना की गई है। व्यवहार या न्यायप्रणाली पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से 'अष्टपाद' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। आवेदन, भाषा, मिथ्योत्तर, कारणोत्तर, प्राङ्न्याय प्रतिभू, क्रिया एवं बलसिद्धि ये आठ व्यवहार के पाद हैं। इन पादों का अवलम्बन लेकर दण्ड चल सकता है अर्थात् न्याय करते समय इन आठों अवस्थाओं पर अच्छी तरह विचार करके दंड का प्रयोग किया जाता है, इसी कारण आवेदन आदि को 'पाद' कहा गया है। न्यायालय में उपस्थित होकर न्यायप्रार्थना का नाम 'आवेदन' है। प्रतिवादी के न्यायालय में उपस्थित होने पर उसके समक्ष फिर से आवेदन लिखने का नाम भाषा है। प्रतिवादी यदि वादी के आवेदन की सब बातें स्वीकार कर ले तो कोई भी दंडित नहीं किया जाता। प्रतिवादी की इस स्वीकृति को 'सम्प्रतिपत्ति' कहते हैं। अगर प्रतिवादी द्वारा लगाये गये आरोप सर्वथा अस्वीकार करे तो उसे 'मिथ्योत्तर' कहेंगे। आवेदन का कुछ अंश स्वीकार करके बाकी को अस्वीकार कर देना 'कारणोत्तर' हैं। वादी पहले एक बार मुकदमा चलाकर उसमें हार गया हो और दूसरी बार फिर से दावा करने पर प्रतिवादी यदि उसकी पूर्व पराजय वाली बात न्यायालय में कह दे तो उसे 'प्राङ्न्यायोचित' कहा जाएगा। यदि वादी व प्रतिवादी दोनों को किसी से जमानत दिलवानी पड़े तो अमुक वस्तु दूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना 'क्रिया' है। अपने पक्ष में प्रस्तुत किये गये साक्ष्य, दलील पत्र आदि की सत्यता आदि न्यायाधीश स्वीकार कर ले तो आदमी मुकदमा जीत जाता है। उपर्युक्त आठों प्रकार से विवेचन करने के बाद ही अपराधी को दंड देने का नियम है। राजा, आमात्य, पुरोहित व सभासद आदि व्यक्ति दंड की आँखें हैं; मुकदमा इनके देख लेने के बाद दंड दिया जाता है। शंकुकर्ण का अर्थ तीक्ष्णकर्ण है, सब बातों को अच्छी तरह सुनकर ही फैसला किया जाता है और दंडित व्यक्ति को उसे दिये गये दंड के बारे में भली भाँति बताया जाता है। 'ऊर्ध्व-रोमवान' शब्द प्रफुल्लता का द्योतक है, दंड के उचित प्रयोग से उसका धर्म प्रसन्न होता है, किसी प्रकार की ग्लानि उसे स्पर्श तक नहीं कर पाती। दंड में तरह-तरह की जटिलताएँ विद्यमान होती हैं, अत: अच्छी तरह सोचे-समझे बिना दंड का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वादी तथा प्रतिवादी की बातों में प्राय: समानता नहीं पाई जाती, अधिकांश मुकदमों में मतैक्य नहीं हो पता। आह्वानीय आदि अग्नि दंड का मुख हैं, अर्थात् ईश्वर का स्मरण करके दंड दिया जाता है, इसीलिए उसे 'ताम्रास्य' कहा गया है। दंड का शरीर कृष्णमृगचर्म से आच्छादित होता है अर्थात् दंड भी दीक्षाप्रधान यज्ञ रूप में परिगणित है। क्षत्रिय का दान, उपवास, होम आदि सब कुछ दंड की विशुद्धि के लिए होता है।

दंड भगवान की शक्ति का प्रतीक—दंड को भगवान की शक्ति के मूर्त्त-प्रकाश स्वरूप बताया गया है। कहा है कि दंड भगवान नारायण का स्वरूप है। महत् रूप धारण करने के कारण उसे 'महान् पुरुष' की संज्ञा दी गई है।

दंड नीति की प्रशंसा—दंडनीति ब्रह्मा की दुहिता है, वही वृत्ति, लक्ष्मी, सरस्वती एवं जगदात्री है। समाज में विद्या, ऐश्वर्य, शौर्य, वीर्य आदि सब कुछ दंडनीति के उचित प्रयोग पर आधारित हैं। उच्छृंखल मत्स्य न्याय की तांडव लीला से लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियाँ डरती हैं, इसलिए दंडनीति द्वारा ही समाज का हर प्रकार का कल्याण व उन्नति की जा सकती है।

दंड वैदिक भित्ति पर प्रतिष्ठित—दंड वैदिक भित्ति पर प्रतिष्ठित है। वेद में जिन कर्मों को निषिद्ध बताया है, उनके लिए श्रुति व स्मृति में प्रायश्चित व दंड का विधान बताया है। वेद में उल्लिखित विधिनिषेध, शास्त्रज्ञों का अनुशासन एवं धर्मज्ञ व्यक्तियों का व्यवहार देखकर दंड का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा महाभारत में उल्लेख आता है।

दंड का कल्याण व रौद्ररूप—उपाख्यान के रूपक अंश को छोड़कर हम यह समझ सकते हैं कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने लोकस्थिति के ख्याल से शिव-रुद्र महादेव द्वारा दंड की उत्पत्ति की व्यवस्था की थी अर्थात् दंड सृष्टिरक्षा एवं सब प्रकार की उन्नति के लिए प्रधान सहायक है। साधु पुरुषों के लिए दंड का रूप अति प्रसन्न व कल्याणकारी है किन्तु असाधु व्यक्तियों के लिए वही अति भयंकर व रौद्र है। राजाओं में भी बहुत ही उत्साही व धर्मनिष्ठ राजा के अलावा दूसरे शिवनिर्मित इस दंड धारण के अधिकारी नहीं हैं।

दंड-माहात्म्य—दंडनीति की बहुत जगह प्रशंसा की गई है। दंडनीति के प्रवर्त्तन से समाज का कल्याण होता है, उसके अभाव में मात्स्य न्याय का बोलबाला हो जाता है। दंड चातुर्वर्ण्यधर्म एवं दूसरे मांगलिक कार्यों में प्रतिष्ठित होता है, अत: भूपति को कभी भी दंडनीति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दंडनीति के उचित प्रयोग का शुभ फल—दंडनीति के यथार्थ प्रयोग से राजा व प्रजा की समृद्धि बढ़ती है। दंडनीति चारों वर्णों को अपने-अपने धर्म में रत रखती है। चातुर्वर्ण्य के बने रहने से वर्णसंकरों की उत्पत्ति की आशंका नहीं रहती। सभी स्वकर्म की उन्नति की चेष्टा करते हैं। इससे समाज समृद्ध होता है। राजा ही काल का कारण होता है। वह जब दंडनीति की मर्यादा का अच्छी तरह पालन करता है, तभी समाज में धर्मप्रधान सत्ययुग की स्थापना होती है। इसी प्रकार राजसेवित दंडनीति के दुरुपयोग से त्रेतादि युग की उत्पत्ति होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि दंडनीति का सदुपयोग सर्वविध कल्याण का मूल है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि महाभारत में वर्णित दण्ड संबंधी चिन्तन समाज में शांति स्थापना हेतु है और यह निश्चित है कि यदि अहिंसा व्यक्तिगत सन्तोष की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है तो शांति सामूहिक सन्तोष की सामूहिक अभिव्यक्ति है, अत: दण्ड यहां रौद्र रूप में नहीं अपितु कल्याण के रूप में प्रस्तुत है। महाभारत में मानवीय उत्थान हेतु स्वयं दण्ड देने अर्थात् प्रायश्चित को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

गुरुतर पाप करने पर दंड व प्रायश्चित दोनों—पाप के गुरुतर होने पर प्रायश्चित व दंड दोनों ही दिये जाते थे। प्रायश्चित के रूप में चान्द्रायण आदि व्रत करने की आज्ञा दी जाती थी तथा साथ ही साथ अर्थदंड भी दिया जाता था।

प्रायश्चित के अनुष्ठान से पापमुक्ति—पाप करने पर प्रायश्चित करना ही पड़ता है। पाप से मुक्त हुए बिना किसी को भी अच्छी गति नहीं मिलती। प्रायश्चित के लिए व्रत आदि करके पापमुक्त हुआ जा सकता है। पाप-पुण्य के सम्बन्ध में कुछ सोचने से पहले जन्मांतर तथा परलोक का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा।

जन्मान्तर में विश्वास ही प्रायश्चित्त का प्रवर्त्तक—पाप करके प्रायश्चित्त न करने से दूसरे जन्म में कष्ट भोगने पड़ते हैं, इस विश्वास पर ही प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है। जन्मान्तर पर संशय या अविश्वास करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का उपदेश व्यर्थ है। वेद, संहिता, पुराण, स्मृति आदि शास्त्र परलोक के जन्मान्तर पर विश्वास करते हैं, इसीलिए उनके उपदेशों में प्रायश्चित्त का भी एक विशिष्ट स्थान है।

अनुशोचना से पापक्षय—एक बार पापजनक कार्य करने पर यदि पश्चात्ताप हो तथा 'फिर ऐसा नहीं करूंगा' इस तरह का दृढ़-संकल्प मन में उत्पन्न हो तभी प्रायश्चित सार्थक होता है, पश्चात्तप के बिना प्रायश्चित्त की कोई सार्थकता नहीं रहती। अनुताप स्वयं ही सबसे बड़ा प्रायश्चित है। दूसरे प्रायश्चित तो बाद की बात होती है।

तपस्यादि प्रायश्चित्त—तपस्या, जप, होम, व्रत आदि सभी पापनाशक हैं। साधारणत: शास्त्र में जिन पापों के प्रायश्चित्त की विधि नहीं दी हुई है, उनके लिए जप, होम, उपवास आदि करना ही उत्तम बताया है। पुण्यसलिला नदी में स्नान करना, पुण्यपर्वत पर रहना, सुवर्णप्राशन, रत्नादिस्नान, देवस्थानपर्यटन तथा घृतप्राशन आदि कर्म भी प्रायश्चित्त के रूप में विवेचित हुए हैं। दान के द्वारा भी पापों का क्षय होता है। प्रायश्चित्त स्वरूप गौ, भूमि एवं धन, सम्पत्ति का दान करना भी उत्तम बताया है। ब्रह्महत्याकारी या इसी तरह के किसी बड़े पातकी का मुंह देख लेने पर सूर्य के दर्शन करके शुद्धिलाभ करनी चाहिए।

3.5 सारांश

महाभारत के विभिन्न अध्यायों में प्रायश्चित्त संबंधी विधान की चर्चा उलब्ध है, जो अंतत: मनुष्य को नैतिक और अहिंसक बनाने हेतु उत्तम धरातल उपलब्ध कराती है।

3.6 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. महाभारत के कितने पर्व (अध्याय) हैं—

(अ) 20 (ब) 18 (स) 21 ( )

2. 'अहिंसा परमो धर्म:' का उल्लेख किसमें आया है—

(अ) गीता (ब) महाभारत (स) उपनिषद् ( )

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. गीता महाभारत के कौन-से पर्व का अंश है—

(अ) अनुशासन पर्व (ब) भीष्म पर्व (स) शांति पर्व ( )

4. ''करु कर्मेव'' का उल्लेख किसमें आया है—

(अ) गीता (ब) सूत्रकृतांग (स) विनय पिटक ( )

5. दण्ड के कितने सिद्धान्त हैं—

(अ) तीन (ब) पांच (स) चार ( )

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न—

1. महाभारत में वर्णित अहिंसा की विवेचना करें।
2. प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति पर एक नोट लिखें।
3. निष्काम व सकाम कर्म में क्या अन्तर है?
4. महाभारत में दण्ड की क्या अवधारणा है?

(स) निबंधात्मक प्रश्न—

1. गीता के कर्मयोग पर एक विस्तृत निबंध लिखें।
2. दण्ड की अवधारणा एवं सिद्धान्तों का वर्णन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : जैन–अहिंसा का स्वरूप, आधार एवं अहिंसा के विविध रूप, अहिंसा एक पर्यावरणीय सिद्धांत एवं बौद्ध–अपराध और पाप के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण, करुणा का दर्शन एवं अशोक की व्यावहारिक अहिंसा

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 जैन अहिंसा
  4.2.1 हिंसा की परिभाषा
  4.2.2 हिंसा का स्वरूप
  4.2.3 हिंसा की उत्पत्ति एवं भेद
  4.2.4 स्वहिंसा और परहिंसा
  4.2.5 षट्कार्यों की हिंसा
4.3 अहिंसा की परिभाषा
  4.3.1 अहिंसा के रूप एवं प्रकार
  4.3.2 अहिंसा : एक पर्यावरणीय सिद्धान्त
4.4 भगवान बुद्ध
  4.4.1 अपराध के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण
  4.4.2 अपराध का अर्थ
  4.4.3 बौद्ध दृष्टिकोण
  4.4.4 कार्यों के नैतिक मूल्य जाँचने की कसौटी
  4.4.5 अपराध का मूल
  4.4.6 अपराधों की रोकथाम
  4.4.7 पाप संबंधी दृष्टिकोण
  4.4.8 करुणा का दर्शन
4.5 अशोक की व्यावहारिक अहिंसा
4.6 सारांश
4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि भारत में धर्म-दर्शन की दो प्रमुख विचारधाराएँ प्रचलित हैं—ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध परम्परा आती है। इन दोनों परम्पराओं का उद्भव प्रायः समान काल में ही हुआ था। यद्यपि जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ थे तथापि सामान्य-जन जिस जैन परम्परा को मानते हैं, वह भगवान् महावीर के द्वारा प्रतिपादित हुई है। बौद्ध परम्परा के प्रवर्तक थे—भगवान् बुद्ध।

4.1 उद्देश्य

भारतीय परम्परा में यदि अहिंसा के विकास के सर्वोच्च शिखरों का ज्ञात करना हो तो जैन-बौद्ध दोनों परम्पराओं का ज्ञान करना अवश्यंभावी हो जाता है। इस पाठ के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं को विचारणीय बनाया गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(अ) जैन अहिंसा — हिंसा की परिभाषा, स्वरूप, उत्पत्ति एवं भेद, स्व-हिंसा एवं पर-हिंसा, षट्कायों की हिंसा।

(ब) अहिंसा की परिभाषा, रूप एवं प्रकार, अहिंसा का औचित्य, अहिंसा : एक पर्यावरणीय सिद्धान्त

(स) भगवान बुद्ध-परिचय, अपराध के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण अपराध का अर्थ, नैतिक मूल्य जांचने की कसौटी, अपराध का मूल, अपराधों की रोकथाम, पाप संबंधी दृष्टिकोण

(द) करुणा का दर्शन, अशोक की व्यावहारिक अहिंसा

4.2 जैन अहिंसा

जिस प्रकार सामान्य दृष्टि से अहिंसा को समझने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि पहले इसका ज्ञान किया जाए कि हिंसा क्या होती है और जब हिंसा का ज्ञान हो जाता है तो स्वत: अहिंसा का स्वरूप भी सामने आ जाता है। उसी प्रकार जैन दृष्टिकोण से भी अहिंसा पर प्रकाश डालने के लिए यह आवश्यक सा मालूम होता है कि पहले जैन दृष्टि से हिंसा को समझने का ही प्रयास किया जाए।

4.2.1 हिंसा की परिभाषा

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है-

''प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा''

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वही हिंसा है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है?

जीव जब प्राण धारण करता है तब प्राणी कहलाता है। भगवती सूत्र में कहा गया है कि जीव आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास तथा बाह्य श्वासोच्छ्वास लेने के कारण प्राण कहा जाता है। क्योंकि इसके अनुसार जीव के छ: नाम हैं (प्राण, भूत, जीव, सत्त्व आदि) जो विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होते हैं। सामान्य तौर से इतना कहा जा सकता है कि जिस शक्ति से हम जीव को किसी-न-किसी रूप में जीवित देखते हैं, वह शक्ति प्राण है, जिसके अभाव में कोई भी शरीर गतिहीन हो जाता है।

जीव के प्राण का घात करना हिंसा है। इसलिए अहिंसा की परिभाषा उपर्युक्त तरीके से की गई है क्योंकि प्रमाद के वश में हुए व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जगती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो उस जीव का प्राणघात करता है, जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जाग्रत हुआ रहता है।

4.2.2 हिंसा का स्वरूप

इन परिभाषाओं से यह साफ जाहिर होता है कि हिंसा के दो रूप होते हैं — भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में कषाय का जाग्रत होना भावहिंसा है और मन के भाव को वचन और क्रिया का रूप देना द्रव्यहिंसा कहलाती है। इन दोनों के चार विकल्प माने गये हैं। दशवैकालिकचूर्णि में कहा गया है कि मन, वचन, काय के दुष्प्रयोग से जो प्राणहनन ले, वही हिंसा है। इसके चार भंग हैं —

1. भावरूप में और द्रव्यरूप में,
2. भावरूप में पर द्रव्यरूप में नहीं,
3. भावरूप में नहीं किन्तु द्रव्यरूप में और
4. न भावरूप में और न द्रव्यरूप में।

जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा लेता है और सर्प को मार डालता है, यह हिंसा के भावरूप और द्रव्यरूप हुए क्योंकि यहाँ पर मारने वाले के मन में सर्प को मारने का भाव आया और उसने उसे डंडे से मार भी डाला। यदि व्यक्ति ने सर्प को मारने के लिए डंडा उठाया और साँप भाग गया अर्थात् सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया तो ऐसी स्थिति में भावहिंसा तो हुई किन्तु द्रव्यहिंसा नहीं हुई। संयोगवश यदि एक व्यक्ति पुआल से अन्न को अलग करने के लिए कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा हो और उस पीटने के सिलसिले में पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने चोट खाकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मर जाये तो यहाँ पर भावहिंसा नहीं किन्तु द्रव्यहिंसा हुई। धान पीटने वाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भी भावना नहीं थी। लेकिन किसी सर्प को देखकर यदि एक व्यक्ति यह सोचकर कि यह भी एक जीव है, जो स्वच्छन्द विचर रहा है, न उसे मारने को सोचता है और न मारता ही है तो यहाँ न भावहिंसा हुई और न द्रव्यहिंसा ही।

सूत्रकृतांग, उपासकदशांग आदि में हिंसा की परिभाषा नहीं मिलती किन्तु अहिंसा सम्बन्धी जो चर्चाएँ हुई हैं, उनसे यह मालूम हो जाता है कि हिंसा के कौन-कौन से रूप होते हैं। सूत्रकृतांग के प्रथम खण्ड में हिंसा का निषेध करते हुए ''तिविहेण'' शब्द का प्रयोग हुआ है। ''तिविहेण''—त्रिविध्या यानी तीन प्रकार से हिंसा नहीं करनी चाहिए। सामान्य तौर से व्याख्याकारों ने इन तीन विधियों को मन, वचन और काया माना है। उपासकदशांग में—मनसा, वचसा, कायसा का स्पष्ट ही प्रयोग हुआ है। मन, वचन और काय से हिंसा का निषेध करना यह साबित करता है कि मन, वचन और काय से हिंसा होती है, अर्थात् हिंसा के भाव रूप और द्रव्य रूप होते हैं। कुछ जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से भी विभाजित किया है तथा चार रूप दिखाये हैं—

1. संकल्पी—सोच-विचार कर पहले से मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना।

2. आरम्भी—चौके-चूल्हे के काम में यानि भोजनादि तैयार करने में जो हिंसा होती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं।

3. उद्योगी—खेती-बारी, उद्योग आदि करने में जो प्राणातिपात होता है।

4. विरोधी—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

4.2.3 हिंसा की उत्पत्ति एवं भेद

हिंसा की उत्पत्ति कषायों के कारण होती है। ये कषाय चार होते हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हीं कषायों के कारण संरम्भ, समारम्भ तथा आरम्भ हिंसा होती है। हिंसा करने का जो विचार मन में आता है, उसे संरम्भ कहते हैं; हिंसा करने के लिए जो उपक्रम होते हैं, उन्हें समारम्भ कहते हैं; और प्राणघात तक की क्रियाओं को आरम्भ कहा जाता है। इस प्रकार चार कषाय तथा संरम्भ आदि तीन से हिंसा के बारह भेद हो जाते हैं। चूँकि हिंसा मन, वचन और काय से होती है, जैसा कि हम लोगों ने पहले ही देखा है तो पहले के बारह भेद के भी तीन-तीन भेद हो जायेंगे। अर्थात् 12x3=36 भेद हुए। किन्तु मन, वचन और काय, जिन्हें तीन योग माना जाता है, के भी तीन-तीन भेद होते हैं—हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना। ये तीन 'करण' कहलाते हैं। इस प्रकार पहले के 36 और तीन करण के गुणों से हिंसा के 108 भेद माने जाते हैं।

4.2.4 स्वहिंसा और परहिंसा

हिंसा करने से प्राय: समझा जाता है दूसरों को पीड़ा पहुँचाना ही हिंसा है। एक व्यक्ति क्रोधित होकर दूसरे को मारता है तो निश्चित ही उसे कष्ट पहुँचता है, जिसे मार पड़ती है। मार खाने वाले व्यक्ति को शारीरिक क्षति पहुँचती है और इसका प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। इस प्रकार वह शारीरिक कष्ट पाने के साथ-साथ मानसिक पीड़ा भी पाता है और उस पक्ष को जो दूसरे को मारने वाला होता है, सभी कष्टों से मुक्त समझा जाता है। यानि दूसरे को मारने में मारने वाले को कोई कष्ट नहीं होता।

किन्तु ऐसा सोचना सर्वथा गलत है। जब व्यक्ति के मन में कषाय का जागरण होता है, तब वह क्रोधित होता है और दूसरे को मारता-पीटता है, गालियाँ देता है। ऐसी स्थिति में उसके मन और तन दोनों में ही विकृति आ जाती है। उसके मन की शांति लुट जाती है, वह तरह-तरह की योजनाएँ बनाता है और शरीर में तो तनाव आ ही जाता है। फिर वह दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। इन दोनों ही स्थितियों में से प्रथम तो मारने वाले का आत्मघात करती है और दूसरी परघात करती है। तात्पर्य यह कि क्रोधादि मानसिक विकार से पहले मारने वाले की आत्मा का घात होता है और बाद में वह दूसरों को कष्ट पहुँचाता है। इन दोनों स्थितियों के लिए ही स्वहिंसा तथा परहिंसा का प्रयोग होता है अर्थात् क्रोधादि से सर्वप्रथम अपना आत्मघात होता है। फिर परघात या परहिंसा होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2.5 षट्कायों की हिंसा

आचारांग सूत्र के 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन में षट्कायों की हिंसा का वर्णन मिलता है—

पृथ्वीकाय—विषय-कषायादि क्लेशों से पीड़ित, ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभबोधि प्राणी इन व्यथित, पीड़ित एवं दुःखित पृथ्वीकायिक जीवों को अनेक तरह के कार्यों के लिए परिताप देते हैं, उन्हें विशेष रूप से संतप्त करते हैं, दुःख एवं संक्लेश पहुँचाते हैं। कुछ लोग इस जीवन के लिए, प्रशंसा पाने के हेतु, मान-सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा की अभिलाषा से, जन्म-मरण से छुटकारा पाने तथा दुःखों का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवों का घात करने वाले शस्त्र का स्वयं प्रयोग करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और शस्त्र का प्रयोग करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करते हैं।

अप्काय—जो व्यक्ति अज्ञानी तथा प्रमादग्रसित होता है, वह प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाने के लिए तथा जीवन की अनेक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए अप्कायिक प्राणियों का स्वयं आरम्भ-समारम्भ करता है, दूसरों से कराता है तथा उन व्यक्तियों की प्रशंसा करता है या अनुमोदन करता है, जो अप्कायिक प्राणियों का आरम्भ-समारम्भ करते हैं। भगवान् महावीर ने माना है कि अप्काय में अप्काय जीवों के पिण्ड होते हैं। इन्होंने अप्काय—जल को सजीव मानते हुए यह भी कहा है कि उसमें द्वीन्द्रिय आदि जीव भी रहते हैं।

अग्निकाय—भगवान् ने परिज्ञा-विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए प्रशंसा, मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म-मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के विनाशार्थ स्वयं अग्नि का आरम्भ करते हैं, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और करने वाले को अच्छा समझते हैं। पृथ्वी के आश्रय में तथा तृण, काष्ठ, गोबर, कूड़ा-करकट के आश्रय में निवसित विभिन्न तरह के अनेक जीव और इसके अतिरिक्त आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु, कीट-पतंग एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग में आ गिरते हैं और उसके (आग के) संस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मूर्छित होकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं।

वायुकाय—इस निःसार जीवन की सुख-सुविधा, प्रशंसा तथा जन्म-मरण के कष्ट से निवारण के लिए प्रमाद के वशीभूत हुआ व्यक्ति वायुकाय जीवों का नाश करता है। जो जीव उड़ते हैं, वे वायु के चक्र में आ जाने से मूर्छित होकर नीचे आ जाते हैं, उनके शरीर में संकोच आ जाता है और उनके प्राणान्त हो जाते हैं। इस प्रकार वायुकाय जीवों का आरम्भ होता है।

वनस्पतिकाय—मनुष्य शरीर जिस तरह जन्म धारण करता है, बढ़ता है, चेतना धारण करता है, छेदन-भेदन से मुर्झा जाता है, आहार ग्रहण करता है, परिवर्तनशील, चय-उपचय वाला तथा अनित्य एवं अशाश्वत है, ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी होता है यानी वनस्पतिकाय भी इन सभी गुणों को धारण करने वाला होता है। किन्तु प्रमादवश व्यक्ति अपने मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा, अन्य सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए इसकी हिंसा विभिन्न रूपों में करता है, कराता है तथा करने वाले का अनुमोदन करता है।

त्रसकाय—विषयकषायादि के वशीभूत आतुर एवं अस्वस्थ चित्त वाले व्यक्ति अपने अनेक प्रकार के स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त विभिन्न त्रसकाय जीवों को कष्ट पहुँचाते हैं। त्रसजीव पृथ्वी, पानी, वायु के आश्रित सभी स्थानों पर पाये जाते हैं। प्रमादी जीव पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, विभिन्न दुःखों से मुक्ति पाने के उद्देश्य से त्रसकाय जीवों की हिंसा करते हैं, दूसरे से कराते हैं और करने वालों का अनुमोदन भी करते हैं।

आचारांग के अतिरिक्त सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, प्रवचनसार, मूलाचार आदि में षट्कायों की हिंसा की चर्चाएँ मिलती है।

4.3 अहिंसा की परिभाषा

सामान्यतौर से किसी भी वस्तु को दो तरह से परिभाषित किया जाता है—व्यावहारिक ढंग से एवं वैज्ञानिक ढंग से। व्यावहारिक परिभाषा के शब्द वस्तु-संबंधी सभी बातों पर प्रकाश नहीं डालते, अतः उन्हें पूर्णतः समझने के लिए उनमें कुछ बातें मिलानी पड़ती हैं तथा विषय के आधार पर कुछ अनुमान भी करना पड़ता है। किन्तु वैज्ञानिक परिभाषा, जिसे परिभाषा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का सही रूप समझा जाता है, वस्तु-संबंधी सभी बातों को अपने शब्दों द्वारा स्पष्ट कर देती है, वस्तु की एक सीमा निर्धारित कर देती है; इसमें न तो परिभाषित वस्तु का कोई अंश छूट पाता है और न कोई अनावश्यक बात मिला ही ली जाती है। अहिंसा के साथ भी ऐसी ही बात पाई जाती है अर्थात् इसकी भी व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक परिभाषाएँ हैं।

आचारांग में कहा है—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता,
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघित्तव्वा,
न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे।

अर्थात्—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वों को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार-उपद्रव करना चाहिए, यह अहिंसारूप धर्म ही शुद्ध है।

यद्यपि इस कथन के मूल में 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, व्याख्याकार ने वस्तु एवं विषय की स्पष्टता के लिए इसमें 'अहिंसा' शब्द बढ़ा दिया है क्योंकि इस कथन में जो भी बातें कही गई हैं, वे अहिंसा पर ही लागू होती हैं तथा इसमें जिस शुद्ध धर्म का प्रतिपादन हुआ है, उसे अहिंसा ही माना गया है।

सूत्रकृतांग में पाया जाता है—

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया।।
एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचम।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया।।

अर्थात्—बुद्धिमान सब युक्तियों के द्वारा इन जीवों का जीवपना सिद्ध करके ये सभी दु:खी के द्वेषी हैं (यानि दु:ख अप्रिय है) यह जाने तथा इसी कारण किसी की भी हिंसा न करे। ज्ञानी पुरुष का यही उत्तम ज्ञान है कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते हैं, अहिंसा का सिद्धान्त भी इतना ही जानना चाहिए।

इस परिभाषा में तीन बातें बताई गई हैं—

1. बुद्धिमान को सभी युक्तियों के द्वारा जीवों के जीवपने को जानना चाहिए,
2. फिर यह भी जानना चाहिए कि सभी जीवों को कष्ट अप्रिय होता है तथा
3. इन दोनों बातों को जानकर किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

अर्थात् हिंसा करने से बचने का प्रयास आदमी तभी कर सकता है जबकि वह प्रथम दो बातों को जानता हो। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में कहा है—

तिविहेणवि पाण मा हणे, आयहिते अणियाणसंवुडे।

(तिविहेणवि) मन, वचन और काय—इन तीनों से (पाण मा हणे) प्राणियों को न मारना चाहिए। इस परिभाषा में मन, वचन और कर्म अर्थात् तीन योग की प्रधानता दिखाई गई है।

आवश्यक सूत्र में अहिंसा की पूर्ण परिभाषा मिलती है। इसमें कहा है—

करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि,
जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं,
न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि।

अहो भगवन्! मैं समभाव में आत्मस्थापन करने के लिए सामायिक व्रत करता हूँ, इसमें सर्वथा प्रकार से सावद्य योग प्रवृत्ति का यावत् जीवन तक प्रत्याख्यान करता हूँ। मन, वचन और काया तीन योग तथा तीन करण से स्वयं करूँ नहीं, अन्य से कराऊँ नहीं, अन्य करने को अच्छा जानूँ नहीं यह व्रत लेता हूँ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसके अनुसार किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा न करना ही अहिंसा है। यह जैनदृष्टि से अहिंसा की वास्तविक परिभाषा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से नव प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

तीन योग (मन, वचन, कर्म), तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना)=9 योग करण। अर्थात्—

1. मन से हिंसा न करना, 2. मन से हिंसा न करवाना, 3. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना
1. वचन से हिंसा न करना, 2. वचन से हिंसा न करवाना, 3. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना
1. काय से हिंसा न करना, 2. काय से हिंसा न करवाना, 3. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नव प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना ही अहिंसा है। यही जैनदृष्टि से अहिंसा का वास्तविक सिद्धान्त है।

नियमसार में प्रथम व्रत अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है कि—

जीव के कुल, योनि, मार्ग, स्थान आदि की जानकारी करके उसके आरम्भ से बचना ही प्रथम व्रत है या अहिंसा है।

योगशास्त्र में कहा गया है—प्रमाद के वशीभूत होकर त्रस (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय) अथवा स्थावर (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति काय के) प्राणियों का हनन न करना अहिंसा व्रत है।

4.3.1 अहिंसा के रूप एवं प्रकार

अभी हम लोगों ने हिंसा के दो रूप देखे—भाव और द्रव्य और उन दोनों से बने हुए चार विकल्प भी। ठीक उसी तरह अहिंसा के भी दो रूप होते हैं, भाव अहिंसा यानी मन में हिंसा न करने की भावना का जाग्रत होना। जैसे कोई व्यक्ति यह संकल्प करता है कि मैं किसी भी जीव का घात नहीं करूँगा। द्रव्य अहिंसा, यानी मन में आये हुए अहिंसा के भाव को क्रियारूप देना अर्थात् उसका वचन और काय से पालन करना, जैसे हिंसा न करने का संकल्प करने वाला वास्तव में जिस दिन से संकल्प करता है, उस दिन से किसी भी प्राणी की हिंसा न करता है, न कराता है और न करने वाले का अनुमोदन ही करता है। भाव और द्रव्य के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं—

1. **भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा**—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह स्थूल प्राणी की हिंसा नहीं करेगा और सचमुच वह ऐसा ही करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप तथा द्रव्यरूप दोनों ही हुई।
2. **भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं**—एक मुनि किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प करके यत्नपूर्वक अपनी राह पर चार हाथ भूमि देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने घात हो जाता है। अत: यहाँ पर भाव अहिंसा तो हुई किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं हुई।
3. **भाव अहिंसा नहीं परन्तु द्रव्य अहिंसा**—मछुआ मछली मारने के उद्देश्य से नदी किनारे जाल फैलाये हुए बैठा रहता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। अत: यहाँ पर भाव अहिंसा तो नहीं है किन्तु द्रव्य अहिंसा है।
4. **न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा**—मांसादि के लोभ में पड़ा हुआ आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही।

प्रधानतौर से अहिंसा के दो प्रकार होते हैं—1. निषेधात्मक और 2. विधेयात्मक। निषेध का अर्थ होता है किसी चीज को रोकना, न होने देना। अत: निषेधात्मक अहिंसा का मतलब होता है किसी भी प्राणी के प्राणघात का न होना या किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना। अहिंसा कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं के करने में भी होती है, जैसे—दया करना, सहायता करना, दान करना आदि। यही सब क्रियाएँ विधेयात्मक अहिंसा कहलाती हैं।

जैन दर्शन मुमुक्षु के समस्त व्यवहारों को व्यापक दृष्टि से दो विरोधी प्रत्ययों के द्वारा अभिव्यक्त करता है—अहिंसा और हिंसा। ''अहिंसा'' उन मूल्यों, आदर्शों, गुण और व्यवहारों का सूचक है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के सच्चे स्वरूप की अनुभूति यानि मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है और सामाजिक तथा प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखता है। इसके विपरीत ''हिंसा हमारे दुर्गुणों और दुराचारों की सूचक है, जो कर्मबन्ध के सहारे बन्धन और दु:खों के कारण बनते हैं तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक और प्राकृतिक जीवन में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करते हैं। आनन्द, शांति और आत्मशक्ति व्यापक होने के कारण अहिंसा वांछनीय तथा दु:ख, अशांति और पाशविकता की वृद्धि से आत्म-हनन के कारण हिंसा त्याज्य है। यहाँ अहिंसा और हिंसा साधन के रूप में व्यवहार है। साध्य के रूप में अहिंसा आत्मा के निश्चय स्वरूप का द्योतक है, अत: यह ''आत्मा'' और ''समस्त'' का पर्याय है। तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अहिंसा सत् (Being) का पर्याय कहा जा सकता है।

साधन के रूप में अहिंसक व्यवहार और मूल्य अन्य कई प्रकार के गुणों को उत्पन्न करते हैं। पर्यायवाची दृष्टि से प्रश्न व्याकरण सूत्र में उसके 60 पर्यायवाची नामों की चर्चा है।

1. **निव्वाण — निर्वाण-मोक्ष :** अहिंसा को निर्वाण की संज्ञा दी जाती है क्योंकि यह निर्वाण यानी मोक्ष का कारण होती है या यों कहें कि यह मोक्षदायिनी होती है।
2. **निव्वई — निर्वृत्ति-स्वास्थ्य :** स्वास्थ्य का अर्थ स्वस्थता की स्थिति है और स्वस्थ का तात्पर्य स्व अर्थात् आत्मा में स्थित होना। जब व्यक्ति स्व में स्थित (स्वस्थ) हो जाता है तब स्वत: ही कर्मों का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। निर्वृत्ति यानि स्वास्थ्य की प्राप्ति तब होती है, जब कर्मों का आत्यंतिक अभाव हो जाता है और यह स्वस्थता की स्थिति मन की प्रसन्नता, निश्चिन्तता तथा दु:खों की पूर्ण निर्वृत्ति की स्थिति होती है, जो कि पूर्णरूपेण अहिंसा पर ही आधारित होती है। अत: अहिंसा को निर्वृत्ति कहा जाता है।
3. **समाही — समाधि-समता :** चूँकि अहिंसा समता का कारण होती है, अत: इसे समाधिरूप कहा जाता है क्योंकि कारण में कार्य निहित होता है।
4. **संती — शांति :** शांति वहीं होती है, जहाँ पर द्रोह का अभाव होता है और अहिंसा के साथ द्रोह बिल्कुल नहीं होता, अत: इसे शांति कहते हैं यानि यह शांतिप्रदायिनी होती है।
5. **कित्ती — कीर्ति — यश :** अहिंसा के पथ पर चलने वाले लोग सन्त, महात्मा, महापुरुष आदि नामों से सम्बोधित होते हैं, वे सर्वप्रिय एवं पूज्य होते हैं, उनकी कीर्तिध्वजा आकाश को छूती है, अर्थात् अहिंसा से यश की प्राप्ति होती है। अत: अहिंसा का एक नाम कीर्ति भी है।
6. **कंती — कान्ति — प्रसन्नता :** अहिंसा को कान्ति कहते हैं क्योंकि यह कान्ति, तेज, प्रताप, सौन्दर्य एवं शोभा प्रदान करती है।
7. **रइय (रई) — रति :** आनन्ददायिनी होने के कारण अहिंसा रति कहलाती है।
8. **विरइय (विरई) — विरति — विराग :** यह सावद्य कर्मों से विराग पैदा करती है, अत: इसे विरति कहते हैं।
9. **सुयंग — श्रुतांग:** यह श्रुतांग कहलाती है, कारण श्रुत ही इसके अंग हैं यानी श्रुतज्ञान ही इसका आधार है।
10. **तित्ती — तृप्ति — संतोष :** इससे सभी प्राणियों को सन्तोष की उपलब्धि होती है यानी यह सन्तोष का कारण है। अत: इसे तृप्ति नाम से भी सम्बोधित करते हैं।
11. **दया — प्राणिरक्षा :** इसके कारण सभी जीवों की प्राणरक्षा होती है, इसलिए इसे दया भी कहते हैं।
12. **विमुत्ती — विमुक्ति — मुक्ति :** अहिंसा संसार के सभी वध एवं बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाली होती है, अत: इसे विमुक्ति कहते हैं।
13. **खंती — क्षान्ति :** यह क्रोधादि समस्त कषायों का निग्रह करने वाली है, इस वजह से इसे क्षान्ति कहते हैं।
14. **सम्मत्ताएहणा — सम्यकत्वाराधना :** सम्यकत्व की आराधना अहिंसा पर ही आधारित होती है, अत: इसे सम्यकत्वाराधना नाम से पुकारते हैं।
15. **महंती — महती :** धर्म के क्षेत्र में इसकी सर्वश्रेष्ठता ही इसका नामकरण महती कराती है।
16. **बोहि — बोधि — सर्वज्ञी:** यह सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति कराने वाली है अत: इसे बोधि कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17. **बुद्धि — बुद्धि :** यह सफलता देने वाली है।
18. **धिती — धृति :** अहिंसा चित्त को धृति यानी धैर्य देने वाली है, इसलिए इसे धृति कहते हैं।
19. **समिद्धी — समृद्धि :** यह समृद्धि यानी आनन्द की जननी है, इसी कारण इसे समृद्धि नाम मिला है।
20. **रिद्धी — ऋद्धि :** ऋद्धि यानी लक्ष्मी अर्थात् धन देन वाली होने के कारण अहिंसा ऋद्धि कहलाती है।
21. **विद्धी — वृद्धि:** इसके कारण पुण्य प्रकृति की वृद्धि होती है यानी पुण्यवद्धि होती है, अत: इसे वृद्धि कहते हैं।
22. **ठिई (ठिती) — स्थिति:** शाश्वत स्थिति यानी मोक्ष प्रदान करने वाली है, इसलिए इसे ठिती या स्थिति कहते हैं।
23. **पुट्ठी — पुष्टि :** अहिंसा पुण्य का उपचय या संचय करती है यानी पुण्य की पुष्टि करती है, अत: इसे पुष्टि कहते हैं।
24. **नंदा — नन्दा :** यह स्व या पर सभी जीवों को आनन्दित करती है, इसलिए यह नन्दा कहलाती है।
25. **भद्दा — भद्रा :** यह अपने और पराये का भी कल्याण करती है, इसलिए इसे भद्रा नाम से सम्बोधित करते हैं।
26. **विसुद्धी — विशुद्धि :** पाप का क्षय करके जीव को विशुद्ध या निर्मल (बिना किसी मल के) बना देती है। इस कार्यदक्षता के कारण यह विशुद्धि नाम से पुकारी जाती है।
27. **लद्धी — लब्धि :** इसके प्रभाव से ही केवलज्ञान एवं केवलदर्शन आदि लब्धियाँ होती हैं, इसलिए इसे लब्धि कहते हैं।
28. **विसिट्ठदिट्ठी — विशिष्टदृष्टि :** अहिंसा प्रधान दर्शन है, इस कारण इसे विशिष्ट दृष्टि कहा जाता है।
29. **कल्लाण — कल्याण :** यह कल्याण यानी आरोग्यता तथा मोक्ष प्रदान करने के कारण कल्याण कही जाती है।
30. **मंगल** — यह पापों का उपशमन करती है, इसलिए मंगल के नाम से भी सम्बोधित होती है।
31. **पमोअ — प्रमोद — हर्ष :** हर्षोत्पादक होने के कारण अहिंसा प्रमोद कहलाती है।
32. **विभूई — विभूति :** सभी प्रकार की ऋद्धियाँ देने के कारण यह विभूति कही जाती है।
33. **रक्खा — रक्षा :** इससे जीवों की रक्षा होती है, अत: यह रक्षा कही जाती है।
34. **सिद्धवास — सिद्धावास :** इसके अभ्यास से जीव सिद्धों के आवास या निवास में सिद्धगति नामक स्थान पा जाता है। मोक्ष के अक्षय निवास को देने वाली है।
35. **अणासव — अनाश्रव :** अहिंसा कर्म-बन्धन को रोकने वाली है, अत: यह अनाश्रव कही जाती है।
36. **केवली-ठाण — केवलि-स्थान :** केवलज्ञानी वही होता है, जो अहिंसक होता है, केवलज्ञानी इसका आश्रय लेते हैं। अत: यह केवली-स्थान कही जाती है।
37. **सिव — शिव :** शिव का एक अर्थ मंगल अथवा कल्याण होता है। अहिंसा षट्कायों के लिए कल्याणप्रद है, अत: यह शिव है। जो अहिंसक होता है, उसे किसी भी उपद्रव का भय नहीं होता है। अर्थात् अहिंसा निरुपद्रव होने का कारण बनती है। इस वजह से इसे शिव कहते हैं।
38. **समिई — समिति — सम्यक् प्रवृत्ति :** चूँकि यह सम्यक् प्रवृत्ति रूप होती है, अत: इसे समिति कहते हैं।
39. **सील — शील समाधि :** अहिंसा समाधान या समाधि का कारण बनती है, अत: यह शील कहलाती है।
40. **संजम — संयम :** हिंसा निवृत्तिरूप है अर्थात् हिंसा-निवारण, जो संयम है, उसका यह साधन है इसलिए इसे संयम नाम से संबोधित करते हैं।
41. **सीलघर — शीलगृह :** सदाचार या ब्रह्मचर्य आदि का यह स्थान है यानी चारित्र का यह गृह है, इसलिए इसे शीलगृह कहते हैं।
42. **संवर — आश्रव** अर्थात् कर्मों के बन्ध को रोकने वाली है, अतएव यह संवर नाम से संबोधित होती है।
43. **गुत्ती — गुप्ति :** अहिंसाव्रत के पालन से जीवों की अशुभ प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं, अत: इसे गुप्ति कहा जाता है।
44. **ववसाअ — व्यवसाय :** यह जीव का एक विशिष्ट व्यवसाय या व्यापार है, इसलिए इसे व्यवसाय कहते हैं।
45. **उस्सअ-उच्छ्य :** शुभ भावों को उन्नति देने के कारण इसे उच्छ्य कहा जाता है।
46. **जन्न — यज्ञ :** अहिंसा भाव पूजा रूप है, अत: यह यज्ञ नाम से संबोधित होती है। यह व्याख्या ज्ञानविमलसूरि तथा जैन शास्त्री घेवरचन्द्र बाँठिया द्वारा की गई है किन्तु जैन शास्त्र के विद्वान घासीलालजी के अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा यज्ञ कहलाती है क्योंकि इससे स्वर्गादि सद्गति प्राप्त होती है। लेकिन भावपूजा का संबंध यज्ञ से तथा अहिंसा से होना सही दिखता है क्योंकि पूजा यज्ञ का अंग है और भावपूजा भावप्रधान है, जैसा कि अहिंसा भी भावप्रधान है।

47. **आयतण — आयतन — आश्रय :** यह गुणों का आश्रय या स्थान है अत: आयतन कहलाती है।
48. **यजण — यतन :** यह अभयदान देने वाली होती है, अत: यजना कहलाती है, अथवा प्राणियों की प्राणरक्षा का प्रयत्न करती है, अत: यतना या यत्न कहलाती है।
49. **अप्पमाय — अप्रमाद :** इससे प्रमाद का परित्याग हो जाता है, इसलिए इसे अप्रमाद कहते हैं।
50. **अस्सास — आश्वास :** यह पर प्राणियों की तृप्ति का कारण है अथवा कष्ट में इसके द्वारा दूसरों को धैर्य बंधाया जाता है, अत: इसे आश्वास कहते हैं।
51. **वीसाअ — विश्वास :** अहिंसा अपने को तथा दूसरों को विश्वास दिलाने वाली है अत: इसे विश्वास की संज्ञा दी जाती है।
52. **अभअ — अभय :** यह संसार के सभी प्राणियों को अभय प्रदान करती है, इसके कारण इसे अभय भी कहते हैं।
53. **अमाघाअ — अमाघात :** किसी भी प्राणी का घातरूप न होने से यह अमाघात वा अमारि कहलाती है।
54. **चोक्ख — चोक्षा :** अहिंसा पवित्र वस्तुओं में भी पवित्र समझी जाती है, अत: इसका नामकरण चोक्षा भी होता है।
55. **पवित्ता — पवित्रा :** पवित्र भावना का संचार करती है इसलिए इसे पवित्रा कहते हैं।
56. **सुई — शुचि :** अहिंसा भावशुचि यानी भावशुद्धता का कारण है अत: यह शुचि कहलाती है।
57. **पूया — पूजा अथवा पूता — पवित्रा :** यह पवित्र है तथा भाव-पूजा है अत: इसे पूजा या पूता कहा जाता है।
58. **विमल** — अहिंसा मिथ्यात्व तथा अविरति आदि मलों से रहित है, इसलिए इसे विमल कहते हैं।
59. **मभासा — प्रभासा — प्रकाश :** यह केवलज्ञानरूप ज्योतिस्वरूप होने से प्रकाशरूप है। इसलिए इसे प्रभास कहते हैं।
60. **निम्मलतर — निर्मलतर :** अहिंसा के प्रादुर्भूत होते ही सभी कर्मरज हट जाते हैं और जीव निर्मल हो जाता है, अत: इसे निर्मलतर कहते हैं।

इन प्रयायों के द्वारा अहिंसा के अलग-अलग विशेष प्रकार के आध्यात्म गुणों का बोध होता है। वस्तुत: इन पर्यायों का सहारा अहिंसा को समझाने के लिए इसलिए लिया जाता है क्योंकि जैन दर्शन का अध्येता उपयुक्त प्रत्ययों से परिचित हो। सत्य तो यह है कि अहिंसा अनन्त गुणकारक है। अत: निश्चय की दृष्टि में अनिर्वचनीय तथा अवर्णनीय है।

उपयुक्त प्रत्ययों के द्वारा भावात्मक प्रत्यय के रूप में अहिंसा का परिचय मिलता है परन्तु अहिंसा केवल भावात्मक प्रत्यय ही नहीं यह एक प्रकार का निषेधात्मक प्रत्यय भी है। सामान्यत: इसका परिचय तो एक निषेधात्मक प्रत्यय के रूप में ही मिलता है। निषेधात्मक प्रत्ययों के रूप में यह उन सभी व्यवहारों का निषेध करता है, जिन्हें हम हिंसा प्रत्यय के द्वारा व्यक्त करते हैं।

जैन दर्शन अहिंसा की अवधारणा, परिभाषा आदि के साथ-साथ उन महत्त्वपूर्ण युक्तियों की विस्तृत चर्चा करता है, जिससे अहिंसा के औचित्य को, अहिंसा के महत्त्व को सिद्ध किया जा सके। ऐसे तो अन्य भारतीय दर्शनों ने अहिंसा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए अपनी महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ प्रस्तुत की है किन्तु जैन दर्शन में दी गई अहिंसा की युक्तियाँ सब दर्शनों की अपेक्षा सर्वांगीण है, स्पष्ट है, स्वाश्रयी है। इन युक्तियों को अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है किन्तु मुख्य रूप से इसको तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है, जो निम्न हैं — 1. समता पर आधारित युक्ति, 2. पारमार्थिक युक्ति, 3. सामाजिक युक्ति।

1. समता पर आधारित युक्तियाँ — जैन दर्शन की अहिंसा मुख्य रूप से समता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें भी तात्विक, आध्यात्मिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक समता अहिंसा की मुख्य आधारशिला है। सबसे पहले हम तात्विक समता पर आधारित युक्तियों की चर्चा करेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अ. तात्विक समता—जैन दर्शन में जीव और अजीव—ये दो मुख्य तत्त्व हैं। इन दोनों तत्त्वों के आधार पर सृष्टि की व्याख्या की जाती है। इन दोनों से उत्पन्न वस्तुओं का स्वभाव समान है। जीव अजीव दोनों सत् रूप हैं। जैन दर्शन के अनुसार सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह स्वभाव है— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का होना। इसका मतलब कि वस्तु उत्पन्न होती है, स्थिर होती है और नष्ट होती है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्येक वस्तु में स्वभाव का विरोधी भाव नहीं अपितु समत्व भाव सन्निहित होता है। दूसरी समानता यह है कि एक पदार्थ को जानने से सभी पदार्थों के स्वभाव की जानकारी प्राप्त हो जाती है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है क्योंकि पदार्थों का स्वभाव समान होता है। वस्तु के सत् रूप होने से ही एक वस्तु को जान लेने पर अन्य समस्त वस्तुओं को जान लिया जाता है। स्याद्वाद में भी यह बताया गया है। 'अनेक में कात्मकमेव' और 'जे एगइं जाणइ से सव्वं जाणइ' इसका मतलब यह हुआ कि जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

पदार्थों की तीसरी विशेषता परस्पर में परापेकार की भावना है। परस्पर में परोपकार की भावना होने से ही पदार्थ का अस्तित्व रहता है। जीव और अजीव—दोनों अपने-अपने कार्यों से एक-दूसरे पर उपकार करते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल—यह चारों अस्तिकाय जीव पर अपने गुणों के आधार पर उपकार करते हैं। जैसे कि धर्मास्तिकाय-जीव की गति में सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय-जीव की स्थिरता में सहायक होता है। आकाशास्तिकाय-स्थान देने में सहयोगी बनता है। पुद्गलास्तिकाय के कारण वलन-मिलन, मिलना, बिखरना होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तात्विक दृष्टि से सब पदार्थों का स्वभाव समान है। एक में अनेकता और अनेकता में एक का गुण लिये हुए हैं, परस्पर में परोपकार की भावना से सन्निहित है। पदार्थों में एकता होने का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा की दृष्टि से सब पदार्थ समान हैं। सभी पदार्थ एक-दूसरे के पूरक हैं, जिसमें सार्वभौम अहिंसा का सिद्धान्त फलित होता है। इस सृष्टि का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा ही हमारे जीवन का आधार है। हिंसा में तो विषमता की भावना सन्निहित है। विषमता से सृष्टि का संचालन नहीं होता है। इस दृष्टि से अहिंसा हमारे जीवन का आदर्श बन सकता है, हमें इसका पालन करना चाहिए।

ब. आध्यात्मिक समता—जैन दर्शन में अहिंसा की महत्ता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक समता भी एक महत्त्वपूर्ण युक्ति है। अध्यात्म का अर्थ है अपने आप में स्थिर रहना। आध्यात्मिक व्यक्ति जैसे अपनी आत्मा की रक्षा करता है, वैसे दूसरों की आत्मा की रक्षा करता है। जैसी अपनी आत्मा को मानता है, वैसी दूसरों की आत्मा को मानता है। दशवेआलिय में बताया गया है—''अतसमे मन्निज्ज छप्पिकाएं।'' भगवान महावीर ने भी कहा है—छह जीव निकायों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैसा व्यवहार अपने प्रति चाहता है और करता है, वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति चाहना और करना चाहिए। यही वास्तविक अहिंसा है और यही अध्यात्म है। जो दूसरों का हनन करता है, उसका स्वयं का हनन होता है। जो दूसरों की बुराई करता है, उसकी स्वयं की बुराई होती है। इस दृष्टि से सब जीवों को अपने समान समझकर किसी के प्रति बुरा व्यवहार अनिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिए। अहिंसा का अर्थ है दूसरों का अहित हो वैसा न करो, दूसरों को कष्ट हो, वैसी कोई प्रवृत्ति न करो। यही समता है और यही यथार्थ रूप में अहिंसा है।

स. जैविक और मनोवैज्ञानिक समता—जैन दर्शन तात्त्विक समता और आध्यात्मिक समता के साथ जैविक और मनोवैज्ञानिक समता के आधार पर अहिंसा की उपयोगिता को सिद्ध करता है। प्रत्येक व्यक्ति में मौलिक मनोवृत्तियाँ होती हैं। इसमें एक मौलिक मनोवृत्ति है—जीने की इच्छा। सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए किसी भी जीव की घात नहीं करनी चाहिए। सभी जीव को सुख प्रिय है, दु:ख किसी को प्रिय नहीं है इसलिए किसी को दु:ख नहीं देना चाहिए। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सभी जीव अहिंसा को चाहते हैं, हिंसा को कोई नहीं चाहता। अहिंसा एक सार्वभौम सत्य है। हिंसा कोई नहीं चाहता इसलिए सभी पर लागू नहीं हो सकती। अहिंसा सब चाहते हैं, इसलिए सभी पर लागू हो सकती है। इस सिद्धान्त में जर्मन दार्शनिक कांट की बात संगत बैठती है कि ऐसे कार्यों को हम नैतिक कह सकते हैं, जिसमें उसकी सार्वभौमता हो। सार्वभौमता के बिना किसी भी कार्य को हम नैतिक नहीं कह सकते। अहिंसा एक युनीवर्सल सिद्धान्त है। उसका पालन जीवन के व्यवहार में होना चाहिए।

2. पारमार्थिक युक्ति—तात्त्विक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक समता के साथ पारमार्थिक समता भी अहिंसा के महत्त्व को सिद्ध करती है। प्रत्येक जीव उस स्थिति को प्राप्त करना चाहता है, जहाँ न राग है, न द्वेष है। जहाँ राग, जरा,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शोक, मरण कुछ भी नहीं है, वह है आत्मा की शुद्धि, अवस्था-वीतरागता-निर्वाण या मोक्ष। उसकी प्राप्ति के लिए जीव त्याग करता है। त्याग से कर्मों के बंधन को रोकता है। जीव तपस्या करता है, तपस्या से कर्मों को तोड़ता है। जब सब कर्म क्षीण हो जाते हैं तब व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त होता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति अहिंसा से ही संभव है। अहिंसा से ही हम उस शाश्वत स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके पीछे किसी प्रकार का अशाश्वत तत्त्व नहीं है। उस आत्मिक सुख को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके पीछे किसी प्रकार का दु:ख नहीं है, उस परमार्थ तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके पीछे किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है। अहिंसा से ही हम उस परम शांति को प्राप्त कर सकते हैं, जिसके पीछे किसी प्रकार की अशांति नहीं है। उपर्युक्त तत्त्वों की प्राप्ति अहिंसा की साधना से ही प्राप्त हो सकती है।

3. सामाजिक युक्ति—जैन दर्शन में अहिंसा के मूल्य को सिद्ध करने के लिए तात्त्विक एवं पारमार्थिक युक्ति के साथ-साथ सामाजिक युक्ति महत्त्व की है। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, समाज में जीता है। व्यक्ति का जीवन संतुलित होगा तो समाज भी संतुलित होगा। व्यक्ति के संतुलित जीवन के लिए शांति, मैत्री एवं सहयोग आदि आवश्यक तत्त्व हैं। शांति, करुणा, सहयोग आदि की प्राप्ति अहिंसा से ही हो सकती है। अगर दूसरे जीवों के प्रति वैर की, अहिंसा की भावना होगी तो व्यक्ति का जीवन शांतिपूर्ण एवं संतुलित नहीं हो सकता। इसके बिना सामुदायिक जीवन जीना भी असंभव हो जाएगा। अहिंसा ही एक ऐसा तत्त्व है, जो हमें दूसरों के साथ सहयोग करना सिखाता है। दूसरों के साथ प्रेम और मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना सिखाता है। व्यक्ति के सर्वांगीण एवं संतुलित विकास से ही समाज का सर्वांगीण एवं संतुलित विकास हो सकेगा। इस दृष्टि से अहिंसा का सिद्धान्त व्यक्ति एवं समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है, जिसका आचरण करना चाहिए।

ईश्वर पर आधारित युक्तियाँ—अहिंसा के महत्त्व को सिद्ध करने के ''इशावास्योपनिषद्'' और ''श्रीमद् भगवत गीता'' ने अपनी युक्तियों को प्रस्तुत किया है। उनकी युक्तियाँ ईश्वर पर आधारित हैं। उनका मानना है कि सारा जगत ईश्वर का ही बनाया हुआ है। ईश्वर ने जो हमें भोगने के लिए दिया हुआ है, उतना ही ग्रहण करना चाहिए। उससे अतिरिक्त किसी के धन का अपहरण नहीं करना चाहिए किन्तु इन युक्तियों में असंग्रह का और अस्तेय का आधार ईश्वर हो जाता है। किन्तु जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता है, उनके लिए अहिंसा का औचित्य व्यवहार में नहीं रहता है और बाध्यता आती है। इसी प्रकार भगवत गीता में भी अपनी युक्तियों के सहारे बताया है कि जो ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त होता है, वही अहिंसक होता है किन्तु जो ब्रह्मतत्त्व को नहीं मानता, उनके लिए अहिंसा बेकार है। इसी प्रकार ईसाई धर्मावलम्बी कहते हैं कि एक ही पिता ईश्वर की सब संतान हैं। सबके प्रति प्रेम का व्यवहार करो। किन्तु यह बात विज्ञानवादी मनुष्यों को बोधगम्य नहीं है। इस प्रकार ईश्वर पर आधारित युक्तियाँ बाह्याश्रित हैं।

वैज्ञानिक युक्तियाँ—अहिंसा की महत्ता को सिद्ध करने के लिए मानव ने जीवन विज्ञान की दृष्टि से भी विचार किया है। इस दृष्टि से जैन दर्शन की अहिंसा विज्ञान पोषी भी है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन की युक्तियाँ स्वाश्रयी है। स्वाश्रयी के साथ समग्रता भी सन्निहित है क्योंकि यह सब दृष्टियों से अहिंसा के औचित्य को सिद्ध करती है। तात्त्विक और व्यावहारिक, व्यक्तिगत और सामाजिक, नैतिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और जैविक आदि सभी दृष्टियों से अहिंसा की समग्रात्मकता सिद्ध होती है। अहिंसा प्राणी का मूल स्रोत है। अहिंसा के आचरण से आत्मा पवित्र होती है, स्वच्छ होती है। इस प्रकार यह दर्शन अहिंसा के सिद्धान्त को समग्र रूप से प्रस्तुत करता है।

4.3.2 अहिंसा : एक पर्यावरणीय सिद्धान्त

पृथ्वी एवं इसका पर्यावरण न केवल मनुष्य, वरन् प्राणी मात्र, वनस्पति जगत एवं अजीव जगत् के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा है। विश्व की प्राचीनतम सभ्यता एवं संस्कृति के देश भारत में दिव्य द्रष्टा महर्षियों ने पर्यावरण के महत्त्व को अपनी दिव्य दृष्टि से जान लिया था एवं उनकी मनीषा ने स्वत: स्फूर्त अग्नि सूक्त, मरूत सूक्त, वात सूक्त, पर्जन्य आदि सैकड़ों सूक्त का सृजन किया। पर्यावरण एवं जीव जगत के सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों एवं परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण उपयोगी सिद्धान्त और चिन्तन हमें प्राप्त है। इनके विस्मरण से कई समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं तथा मानव समाज भटकाव की स्थिति में पहुँच गया है। महर्षि द्वय चरक एवं सुश्रुत की आयुर्वेदिक संहिताओं तथा सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य में इस सन्दर्भ में परामर्श एवं अत्यन्त उपयोगी मार्ग निर्देशिका सामग्री है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मनुष्यता के बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विकास के इतिहास का सिंहावलोकन स्पष्टत: दशाता है कि जिज्ञासा, आश्चर्य, प्रेक्षण, कल्पना, ज्ञान पिपासा, चिन्तन, मनन, प्रयोग, रहस्यों तथा समस्याओं से जूझकर उनका हल खोजने की प्रवृत्ति, प्रकृति पर विजय पाने की अदम्य लालसा एवं प्रबल पुरुषार्थ शक्ति ने समस्त विश्व में विज्ञान की विविध शाखाओं को जन्म दिया, विशेषत: वर्तमान शताब्दी में मानो ज्ञान-विज्ञान का 'विस्फोट' ही हुआ है तथा इसके परिणामस्वरूप मानव जीवन में विभिन्न प्रकार की सुविधाओं एवं भौतिक सुखों में अपूर्व वृद्धि हुई है। परन्तु बीसवीं शताब्दी अपने आप में अनोखी कही जा सकती है क्योंकि इसमें तीव्र विकास तो हुआ, किन्तु वहीं पर अधिकांश समस्याएँ केवल एक देश या कुछ देशों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उनका स्वरूप बहुआयामी व विश्वव्यापी रहा। इन्हीं समस्याओं में से एक ज्वलंत समस्या है—'पर्यावरण प्रदूषण'। किसी अच्छाई या भलाई के साथ कोई-न-कोई बुराई अवश्य जुड़ी होती है या जुड़ जाती है। पर्यावरण की अशुद्धि या प्राकृतिक प्रदूषण भी एक ऐसा ही विषय है, जो विज्ञान एवं तकनीकी विकास के साथ गहराई से जुड़ा है, जिसके संभावित दुष्परिणामों से समस्त प्राणीजगत भयभीत है। संक्षेप में पर्यावरण की शुद्धि पर प्राणी जगत का अस्तित्व निर्भर करता है।

गाँधीजी ने प्रकृति के नियम को याद दिलाते हुए हमें सावधान किया था कि जो व्यक्ति जिससे जितना ग्रहण करे, उतना उसे वापस करना चाहिए, तभी व्यवस्था संतुलित रहती है, किन्तु क्रोधादि, अशुभ मनोविकार, कर्त्तव्य विमुखता, स्वार्थी मनोवृत्ति, भ्रष्ट आचरण, अवसरवादिता के रूप में अनार्जित आय को प्राप्त करने की भावना, पदलिप्सा, असीमित इन्द्रिय भोग एवं वासना के मनोविकारों से व्यक्ति एवं समाज पीड़ित होता है, तब वह प्रकृति के प्रति क्रूर एवं हिंसक होकर प्रतिक्षण लेता ही रहता है, जिससे पर्यावरण एवं प्राकृतिक संतुलन भंग हो जाता है। अमर्यादित वन-विनाश, अनियंत्रित उत्खनन, जल एवं वायु प्रदूषण आदि इसके ही क्रूर नमूने हैं, जिसके संभावित दुष्परिणामों से सभी भयभीत हैं। मनीषियों, तीर्थंकरों या पैगम्बरों ने अहिंसा का जो सिद्धान्त अपनी आत्मकरुणा व संवेदनशीलता के आधार पर दिया, यह पर्यावरण संतुलन में भी उतना ही कारगर है, जितना निजी जीवन में संतुलन के कायम करने में है। बाहरी पर्यावरण के प्रति छोटे से छोटे प्राणी के प्रति यदि संवेदनशीलता है तो पर्यावरण संरक्षण का मूल मंत्र बन सकती है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शुद्धि हेतु यह आवश्यक है कि मानवीय मानसिक प्रदूषण को नियंत्रित, संयमित एवं संतुलित कर उसे जनोपयोगी बनाया जाए। ज्ञातव्य है कि व्यक्ति एवं समाज की अशुभ प्रवृत्तियों, असदाचार, असंयम को रोकने में जैन परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

जैन धर्म दर्शन ने वनस्पति जगत (प्रकृति एवं पर्यावरण) के प्रति समता का भाव दिखाना, अहिंसक व्यवहार की शिक्षा देकर वर्तमान पर्यावरण की समस्याओं के सन्दर्भ में उत्तर देने का सफल प्रयास किया है। प्रकृति असन्तुलन का मुख्य कारण पैड़-पौधों, वनों, वनस्पति आदि के प्रति मानवीय क्रूरता ही है। अन्य विकृत भावनाओं ने विशाल उद्योगों, वाहनों और शस्त्रों के आविष्कार, अशिक्षा एवं प्रयोगों ने मानव जगत के सम्मुख अनेक ज्वलन्त समस्याओं को प्रस्तुत किया है। पारिस्थितिक तंत्र में कुप्रभाव के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ गया है, जिससे अनेक निम्न स्तर के द्वीपों के अस्तित्त्व पर भी प्रश्न चिह्न उपस्थित होने वाले हैं। आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने वनस्पति व अन्य जीवों के प्रति सद्भाव एवं संयमित जीवन का निरूपण किया था, जो आज के युग में अधिक प्रासांगिक एवं पर्यावरण संरक्षण में सहायक सिद्ध हो रही है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में उल्लेख हुआ है कि प्राणवध हिंसा है, कृत्य है, करुणा रहित है, क्रूर तथा महाभयंकर है, अत: इसका निषेध किया जाना चाहिए। आचारांग में वनस्पति जगत के प्रति मनुष्य में सद्भावना को प्रकट करते हुए न केवल वनस्पति जगत अपितु पर्यावरण के महत्त्वपूर्ण घटक जल, वायु, पृथ्वी तथा अग्नि के सन्दर्भ में ही संयम पूर्वक रहने का निर्देश दिया गया है। आधुनिक विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति जगत् में भी मनुष्य जीवन की भाँति जन्म व मरण की प्रक्रिया संयमित होती है, न केवल इतना ही अपितु उनमें संवेदना भी पाई जाती है। प्राच्य काल से ही इस तथ्य से परिचित जैन ग्रन्थों से स्थावर व त्रस्त जीवों के प्रति अहिंसक एवं संयमी रहने का जो निर्देश हमें प्राप्त होता है, वह अन्तत: पर्यावरण संरक्षण हेतु दिशा-निर्देश करने में सक्षम है। वास्तव में जहाँ प्राणी मात्र के प्रति धैर्य की भावना होगी, वहाँ किसी भी प्रकार के जीव की अनावश्यक हिंसा नहीं हो सकती। जब अहिंसा का एक सीमा तक विकास हो पाता है तो पर्यावरण की समस्या का निराकरण स्वत: ही हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन पर्यावरणीय नैतिकता हेतु आवश्यक दिशा बोध एवं निर्देशन देता है। जैनदर्शन का समतावाद, सह-अस्तित्व एवं सहयोग का आधार मनुष्य तथा मनुष्य व प्रकृति के बीच समयन्वयात्मक सम्बन्धों को विकसित करने का आधार प्रस्तुत करता है इसलिए आज के पर्यावरण के लिए नैतिकता की दृष्टि से अत्यन्त साधक है।

4.4 भगवान बुद्ध

भारत में लगभग 2500 वर्ष पूर्व मगध साम्राज्य का बड़ा भारी प्रताप था। यह राज्य आजकल के दक्षिण बिहार में गंगा के दक्षिण में शोमा नदी तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी राजगृह नगरी थी। इसके उत्तर में प्रबल लिच्छवियों का गणतंत्र राज्य था। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली थी, जो गंगा के उत्तर में थी।

आज जिसे पूर्वी बिहार कहते हैं, वह देश उस समय अंग देश के नाम से विख्यात था। गंगा के उत्तर-पश्चिम के किनारों पर कौशलों का राज्य था। दक्षिण की ओर काशियों का प्राचीन राज्य था जो उस समय श्रावस्ती के राजाओं के अधीन था। कौशल राज्य के पूर्व की ओर रोहणी नदी के दोनों किनारों पर आमने-सामने दो स्वतंत्र जातियां शासन कर रही थीं। उनमें एक 'शाक्य' और दूसरी 'कोली' जाती थी। इन जातियों का स्वातन्त्र्य उनके सामर्थ्य के आधार पर था। शाक्यों की राजधानी 'कपिलवस्तु' थी और जिस समय का हम उल्लेख कर रहे हैं, उस समय शाक्यों की गद्दी पर महाराज शुद्धोधन थे। मगध की गद्दी पर विश्व-विख्यात सम्राट बिम्बसार थे और कौशलों की गद्दी पर महाराज प्रसेनजित थे। शाक्यों और कोली सरदारों का परस्पर खूब मेल-जोल और सम्बन्ध था। महाराजा शुद्धोधन ने कोली महाराज की दो कन्याओं को ब्याहा था।

विवाह के बहुत समय बाद इन दोनों में से बड़ी बहन के गर्भ रहा। प्रसव से कुछ समय पहले उस समय की रीत्यानुसार वह राजकन्या पिता के घर प्रसव कराने को भेज दी गई, लेकिन मार्ग में ही लुम्बिनी नामक वन में उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र सहित रानी पिता के घर पहुंची और सातवें दिन मर गईं फलत: छोटी बहन ने उस बच्चे को पाला। यही बच्चा भविष्य में भगवान बुद्ध होकर प्रसिद्ध हुआ।

उसका नाम सिद्धार्थ रखा गया; लेकिन राशि का नाम गौतम था। शाक्यों का उत्तराधिकारी होने के कारण उसे शाक्य सिंह भी कहा जाता था। अन्त में उसने महान् ज्ञान प्राप्त किया और अपने को बुद्ध के रूप में प्रसिद्ध किया। 18 वर्ष की अवस्था में उन्होंने यशोधरा को स्वयंवर रीति से वरा, जो उनकी माता ही के घराने की कन्या थी। इस परम सुन्दरी राजकुमारी के साथ 10 वर्ष तक वह सब प्रकार के लौकिक सुख भोगते रहे। अन्त में पुत्र उत्पन्न होने के दिन ही उन्होंने गृह-त्याग किया और संसार के दु:खों से दूर रहने के लिए सन्मार्ग की खोज में अग्रसर हुआ।

इसके पूर्व वह निरन्तर मनुष्य-जाति के पाप और दु:ख पर गम्भीरता और सहानुभूति के साथ विचार करता रहता था। उसने धन और अधिकार की निस्सारता को अच्छी तरह समझ लिया था। अधिकार और धन से अलग रहकर वह कोई ऐसी वस्तु प्राप्त करने की खोज में था, जो न तो धन और न अधिकार से मिल सकती है। राजमहल के सुखों और विलास के जीवन में भी उसके हृदय में मनुष्य-मात्र के दु:ख दूर करने की अभिलाषा थी। और वह अभिलाषा एक प्रबल और अनिवार्य कामना हो उठी। उन्होंने एक निर्बल, वृद्ध मनुष्य को देखा और जाना कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसा होना अनिवार्य है। फिर उन्होंने एक रोगी मनुष्य को देखा और जाना कि प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार रोगी हो सकता है। उन्होंने एक वीतराग संन्यासी को देखा और उसकी इच्छा हुई कि वह भी सब कुछ त्याग कर विरक्त बन जाये।

इसी समय उनके एक पुत्र हुआ। पुत्र उत्पन्न होने का समाचार जब उन्हें मिला, वह एक नदी के किनारे एक वाटिका में बैठे हुए थे। समाचार सुनते ही उसने कहा—यह एक नया और दृढ़ बन्धन और तैयार हुआ, जिसे अब तोड़ना ही पड़ेगा।

उसी रात्रि को गौतम ने अपनी पत्नी के शयनागार में जाकर देखा—उनकी पत्नी सुख-निद्रा में सो रही है, उनका एक हाथ बच्चे के सुकोमल चेहरे पर है। यह बड़े सुख और आनन्द का दृश्य था। उनके मन में यह इच्छा हुई कि इन तमाम इहलौकिक सुखों को छोड़ने से पहले, वह एक बार अपने बच्चे को गोद में उठाकर प्यार करे; पर वह एकदम रुक गया, कदाचित् बच्चे की माँ जग उठे और मां की प्रार्थनाएँ उनके हृदय को हिला दें और उनके संकल्प में बाधा पड़ें ऐसा विचार कर वह चुपचाप घर से बाहर निकल गया। एक ही क्षण में इस अन्धकार के अन्दर उन्होंने अपने अधिकार, सुख, अपनी उच्च मर्यादा, राजकुमार के पद को, अपने सुखद स्नेह की भावना को, युवती पत्नी और उसकी गोद में सोये हुए सुकोमल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बच्चे के प्रति प्रगाढ़ प्रेम को त्याग दिया। वह महान् त्यागी बनकर एक निर्धन विद्यार्थी और गृहहीन पथिक की भाँति निकल पड़ा। उसका स्वामी-भक्त नौकर चंदन उसके साथ था। उसने हमेशा साथ रहने का बहुत आग्रह किया; परन्तु गौतम ने उसे वापस कर दिया और वह अकेला ही राजगृह की ओर चल दिया।

राजगृह मगध सम्राट् बिम्बसार की राजधानी थी। वह बड़ी-बड़ी घाटियों के बीच पांच पहाड़ियों से घिरी हुई थी। अनेकों साधु और संन्यासी इन पहाड़ियों की गुफाओं में रहते, और वे ध्यान और अध्ययन करने के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। वह घाटियां नगर से कुछ दूर थीं। गौतम अलार नामक संन्यासी के पास कुछ दिन रहे और फिर उद्रक संन्यासी के पास रहकर उन्होंने हिन्दू दर्शन-शास्त्र सीखा, लेकिन इससे उसको सन्तोष न हुआ।

गौतम यह जानना चाहते थे कि क्या तपस्या करने से दैवी-शक्ति और ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं? वह उर्बला के जंगल में, जो आधुनिक बौद्ध-गया के निकट था, गये और 5 साथियों के साथ 6 वर्ष तक कठोर तपस्या की और बड़े कष्ट सहे। इससे सर्वत्र उसकी ख्याति हुई; क्योंकि अज्ञानी लोग उसे बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते और बहुत जल्द प्रभावित होते थे; परन्तु गौतम जिस वस्तु की खोज में था, वह उसे न मिली।

एक दिन अत्यन्त दुर्बलता के कारण वे गिर पड़े। उसके शिष्यों ने समझा कि वे मर गये, लेकिन जब वे होश में आये तो उसने निश्चय किया कि ये तपस्याएँ व्यर्थ हैं और उन्हें छोड़ दिया। उनके शिष्यों ने उन पर घृणा प्रकट की और इसे छोड़कर वे बनारस चले गये।

अब गौतम अकेले निरंजना नदी के तट पर भ्रमण करने लगे। उन दिनों एक कृषक कन्या सुजाता नित्य प्रातःकाल उन्हें भोजन दे जाती थी और वह प्रसिद्ध बौधि-वृक्ष के नीचे बैठकर विचार किया करते थे। वे बहुत समय तक विचार करते रहे। उनके अतीत जीवन के दृश्य उसके सामने आते रहे। इन्द्रियों की वासना आदि ने उसे ललचाया। जो विद्या उसने अब तक प्राप्त की थी, वह उसे व्यर्थ-सी मालूम हुई और जो तपस्याएँ उसने की थीं; वह भी निष्फल ज्ञात हुईं बराबर उसकी यह इच्छा होती रही कि वे अपनी प्रिय पत्नी के पास, अपने बच्चे के पास जो अब 6 वर्ष का हो गया होगा, अपने माता-पिता के पास और अपनी राजधानी को लौट जाये लेकिन उसे संतोष न होता था। वह सोचता था कि मार्ग को उसने चुना है, उसका क्या होगा? वह चिरकाल तक इन विषयों पर सोचता रहा। अन्त में उसके सब संदेह दूर हुए और सत्य का प्रकाश उसकी आँखों के सामने चमकने लगा।

यह वह सत्य था, जिसे न तो विद्या और न तपस्या ही सिखा सकती है। उसने कोई नया तत्त्व नहीं जाना और न कोई नया ज्ञान प्राप्त किया; किन्तु उसके धार्मिक स्वभाव और दयालु हृदय ने यह बता दिया कि पवित्र जीवन, प्रेम और दया का भाव सबसे उत्तम तपश्चर्या है। प्राणी-मात्र से प्रेम करना आत्मोन्नति का सबसे उत्तम मार्ग है—यह नई बात उन्होंने मालूम की और उसने अपने-आपको 'बुद्ध' के नाम से प्रकट किया।

तत्पश्चात् बुद्ध 45 वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। जब वे 80 वर्ष के हो गए तब उन्होंने अनुभव किया कि अब जीवन त्याग करने का समय आ गया है। तब वे ध्यान में बैठ गए और ध्यान योग की उच्चतम क्रियाओं को करते रहे और निर्वाण को प्राप्त हुए। इस महान् उपदेशक के दर्शन में जिस प्रकार के विशद् परिवर्तन एवं विकास हुए हैं, उससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह मानवीय बुद्धि की महत्तम योगदानों में से एक है, आश्चर्यजनक, सुन्दर एवं रहस्यमय दर्शन है। भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता अनेक शताब्दियों तक निरन्तर होते रहने वाले इसके गहनतम प्रभाव के सदैव ऋणी हैं।

4.4.1 अपराध के प्रति बौद्ध दृष्टिकोण

अपराध मानव-व्यवहार है, किन्तु सभी प्रकार के मानव-व्यवहार अपराध नहीं हैं। सिर्फ वही मानव-व्यवहार अपराध हैं, जो सामाजिक मूल्यों के प्रतिकूल होते हैं और जिनसे समाज को हानि होती है। मनुष्य के इस प्रकार के व्यवहार, जिनका सम्बन्ध अपराध से है, सार्वभौमिक है। हर एक समाज में अपराध और अपराधी पाए जाते हैं; चाहे वह समाज आदिम हो या आधुनिक, शिक्षित हो या अशिक्षित। अपराध मृत्यु और बीमारी की भाँति हर काल और समाज में पाए जाते हैं। आदिम समाजों में अपराध मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. एक समुदाय की प्रथाओं को तोड़ना, जैसे—राजद्रोह, विवाह के नियमों का उल्लंघन आदि;

2. परिवार-समूह के विरुद्ध अपराध, जैसे—बलात्कार, पितृहत्या आदि; और

3. एक गोत्र-समूह द्वारा दूसरे गोत्र को चोट पहुँचाना, जैसे—हत्या, चोरी आदि।

आदिम समाजों में जितने भी अपराध पाए जाते थे, उनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

1. आदिम समाजों में अधिकांश अपराध समाज के विरुद्ध हुआ करते थे।
2. आदिम समाजों में भी अपराधी-कानून थे। ये सभी कानून धर्म, नैतिकता और प्रथाओं पर आधारित होते थे।
3. दण्ड कठोर थे, जिनका उद्देश्य अपराधी को अधिक-से-अधिक दु:ख की अनुभूति कराना होता था।

मानव विकास करता गया। राज्य नामक संस्था का विकास हुआ। राज्य नामक संस्था के विकास का आधार था—'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण'। इसी को ध्यान में रखकर कानूनों का निर्माण किया गया। अब राज्य की सार्वभौमिकता, कानून और न्याय का उल्लंघन 'अपराध' कहा गया।

अपराध सार्वभौमिक होते हुए भी इसकी व्याख्या में सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है। इसका कारण यह है कि अपराध की व्याख्या देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल होती है। इसीलिए अपराध की व्याख्या में भी भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए शराब पीना भी कई जगह अपराध है और कई जगह नहीं। भारतवर्ष में पहले सती प्रथा एक रूढ़ि थी, किन्तु आज ऐसी क्रिया अपराध की सीमा में आती है। द्रोपदी को भरी सभा में नग्न किया गया था जो उस समय अपराध नहीं था, किन्तु आज इस प्रकार की क्रिया अपराध की सीमा में आती है। पहले अनेक स्त्रियों से विवाह करना अपराध नहीं था, जबकि 'हिन्दू विवाह अधिनियम' के अनुसार प्रत्येक हिन्दू एक से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता है। मुसलमान आज भी एक से अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं।

समाज गतिशील है और इस गतिशीलता के कारण समाज के मूल्य, प्रथाएँ और दृष्टिकोणों में भी परिवर्तन होता जाता है। फलत: अपराध की धारणा में भी परिवर्तन हो रहे हैं।

4.4.2 अपराध का अर्थ

मानव समाज का अनेक जटिल समस्याओं से सामना होता रहता है। इन समस्याओं में अपराध प्रमुख है। इस समस्या की जटिलता और गम्भीरता के कारण ही विश्व के सभी सभ्य राष्ट्र इस पर विपुल धनराशि खर्च कर रहे हैं। अनेक देशों में अपराध-निरोध के कार्य को अनेक योजनाओं के माध्यम से संचालित किया जा रहा है। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-ही-साथ अपराधों की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अपराधों की मात्रा में निरन्तर वृद्धि के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक सभ्य समाज में अपराध के समाजीकरण की प्रक्रिया गतिशील है।

'अपराध' अंग्रेजी के शब्द 'क्राइम' (Crime) का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी शब्दकोश में 'क्राइम' के जो पर्याय दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अपराध, जुर्म, कसूर, दोष, अपकृत्य, पातक, पाप, गुनाह। अंग्रेजी का 'क्राइम' (Crime) शब्द लैटिन भाषा के 'क्रिमेन' (Crimen) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है—विलगाव। साधारण बोलचाल की भाषा में अपराध एक ऐसा कार्य है, जो व्यक्ति का सामाजिक विलगाव (अलगाव) उत्पन्न करता है; दूसरे शब्दों में जिसे समाज स्वीकार नहीं करता है।

प्रत्येक सभ्य समाज में अपराध की व्याख्या को कानूनी आधार पर समझने का प्रयास किया जाता है। जब अपराध की विवेचना कानूनी दृष्टि से की जाती है, तो उसमें निम्न दो गुणों को सम्मिलित किया जाता है— 1. जान-बूझकर किया गया व्यवहार, 2. अपराधी-नीयत।

अपराध में व्यवहार (क्रिया) तो होगा ही। व्यवहार के अभाव में अपराध की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। किन्तु दूसरा तत्त्व (नीयत) इससे भी महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जब अपराध करता है, तो उसकी नीयत में दोष आ जाता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि वह जो करने जा रहा है वह कानून की दृष्टि से वर्जित तो है ही, दण्डनीय भी है। अनेक अपराध ऐसे भी होते हैं, जो अनजाने में हो जाते हैं। इन अपराधों में नीयत का अभाव पाया जाता है। अनेक अपराध अचानक हो जाते हैं, पागल या छोटे बच्चों द्वारा हो जाते हैं। इन अपराधों में नीयत का अभाव पाया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाता है। इस प्रकार कानून की दृष्टि से अपराधी-व्यवहार और नीयत का एक साथ घटना अपराध है। अपराध के लिए कौन जिम्मेदार है? इस प्रश्न के सामान्यतया निम्न दो उत्तर दिए जाते हैं—1. अपराध के लिए व्यक्ति उत्तरदायी है; तथा 2. अपराध के लिए समाज उत्तरदायी है।

अपराध की सामाजिक व्याख्या इस बात पर आधारित है कि 'समाज अपराध के लिए उत्तरदायी है।' महात्मा गाँधी के अनुसार—''समाज का कर्त्तव्य है कि उन लोगों के प्रति, जो निश्चित रीतियों और परम्पराओं के विरुद्ध काम कर बैठते हैं, हृदयहीन सौतेली माँ जैसा व्यवहार न करें इस प्रकार के अपराध भिन्न प्रकार की बीमारियाँ हैं।'' महात्मा गाँधी के अनुसार अपराध एक बीमारी है। यह सामाजिक परिस्थितियों की देन है। गाँधीजी के अनुसार गुप्त रूप में हम सभी अपराधी हैं। इसलिए हमें अपने शब्दकोश से 'अपराधी' शब्द को हटा लेना चाहिए।

अपराध की सामाजिक व्याख्या सामाजिक मूल्यों, परम्पराओं और रूढ़ियों से सम्बन्धित है। समाज के कुछ मूल्य होते हैं। इन मूल्यों का उद्देश्य समाज का कल्याण करना होता है। इन मूल्यों को अच्छी तरह से सम्पन्न करने के लिए कुछ विधान होते हैं। कभी-कभी व्यक्ति जान-बूझकर इन मूल्यों की उपेक्षा करता है और कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। मूल्यों की रक्षा के लिए अनेक प्रथाओं और परम्पराओं का विकास होता है। इन्हीं प्रथाओं और परम्पराओं का उल्लंघन अपराध कहलाता हे। अपराध को रोकने के लिए सामाजिक निन्दा के रूप में दण्ड भी दिया जाता है, जैसे समाज से अलग कर देना, पानी और भोजन नहीं करना, आदि।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि अपराध का सम्बन्ध मानव-व्यवहारों से है, किन्तु सभी मानव-व्यवहार अपराध की सीमा में नहीं आते हैं। व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और असामान्य। इन्हें समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार और समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार, इन दो भागों में बांटा जा सकता है। सरल शब्दों में, ''अपराध वह प्रक्रिया है, जिसमें सामान्य व्यवहार-प्रतिमान में विचलन होता है।'' इस प्रकार सामान्य व्यवहार-प्रतिमान के विरुद्ध किया गया कार्य ही अपराध है। व्यवहार-प्रतिमान का निर्धारण संस्कृति के आधार पर होता है। सांस्कृतिक संघर्ष भी व्यवहार-प्रतिमानों को असामान्य बना देता है, जिससे अपराधों का जन्म होता है। संस्कृति में संघर्ष तीन स्थितियों में हो सकता है—

1. जब दो या दो से अधिक संस्कृतियाँ आपस में मिलती हैं, तब स्वाभाविक रूप से संघर्ष होता है। इसके साथ ही जब एक देश में अनेक संस्कृतियों, धर्मों और विचारधाराओं के व्यक्ति एक साथ निवास करते हैं, तो संघर्ष का होना स्वाभाविक बात हो जाती है। ये संघर्ष अपराधों को जन्म देते हैं।

2. दूसरी अवस्था में संस्कृति में संघर्ष तब पैदा होता है जब एक सांस्कृतिक समूह का कानून दूसरे सांस्कृतिक समूह पर लाद दिया जाता है। ऐसी स्थिति में भी सांस्कृतिक संघर्ष होकर अपराधों का जन्म होता है।

3. तीसरी अवस्था में संस्कृति में संघर्ष तब होता है जब एक सांस्कृतिक समूह का व्यक्ति दूसरे सांस्कृतिक समूह में प्रवेश करता है। संस्कृति में भिन्नता के कारण वह नये समूह के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है और संघर्षों का जन्म होता है।

4.4.3 बौद्ध दृष्टिकोण

यद्यपि बौद्ध-साहित्य में अपराध पर कोई व्यवस्थित चिन्तन नहीं मिलता। निकायों में अपराध पर कुछ परिधीय चिंतन हुआ है तथा जातकों में अपराध विषयक कुछ सामग्री उपलब्ध है। जातकों की कहानियों के माध्यम से यह नहीं कहा जा सकता कि यह बुद्ध का दृष्टिकोण है। परवर्ती बौद्ध-साहित्य तथा मिलिन्द प्रश्न में अपराध पर विचार हुआ है पर उसे निकायों के साक्ष्य के आधार पर ही सही माना जा सकता है।

दीघनिकाय (3.80) के अनुसार अपराधों का प्रारम्भ प्राकृत अवस्था में होता है तथा राजतंत्र का प्रवेश अपराध के दमन के लिए होता है। यहीं से शासन या नियंत्रण का प्रारम्भ भी होता है। सतयुग में भी शासन था तथा शासन विजय श्री का वरण भी करते थे पर उनकी विजय तलवारों के बल पर नहीं होती थी। वे अपने पड़ोसियों पर शांतिपूर्वक विजय प्राप्त करते थे, जो सदाचारिता पर आधारित होती थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह महत्त्वपूर्ण है कि अपराध का प्रादुर्भाव तथा परिणामतः सभ्यता का गिरता स्तर तथा गिरती मानवीय स्थितियाँ शासकों के दोषों व गरीबों के प्रति लापरवाही के कारण हुईं जब तक पूर्ण अराजकता काल नहीं आ जाता तब तक अपराध बढ़ते हैं, नैतिकता गिरती है और जीवन मूल्यों की अवनति होती है। जैसा कि दीघनिकाय (3.58) में वर्णित है।

दीघनिकाय का पहला सन्दर्भ अपराध का प्रादुर्भाव प्राकृत अवस्था (State of Nature) मानता है जबकि दूसरा सन्दर्भ अपराध का कारण व्यवस्था को मानता है। ''अपराध एक समाज-विरोधी कार्य है, जो शेष समुदाय द्वारा स्वीकृत आचार के नियमों को अस्वीकार करता है तथा इस प्रकार के कुछ कार्यों के लिए उस व्यक्ति के विरुद्ध दण्ड का भी प्रावधान है जो ऐसे कार्य करता है अथवा उनका अनुमोदन करता है।'' अपराध की यह आधुनिक परिभाषा अपराध की जटिल प्रकृति व अपराध तथा दण्ड में बीच संबंध को भी स्वीकार करती है। निकायों में कानूनी दृष्टिकोण से अपराध पर विचार नहीं हुआ है, इसलिए उपर्युक्त विशेषताओं से संबंधित कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। पर वहाँ अपराध का सामाजिक स्वरूप उजागर हुआ है तथा व्यक्ति व धन की सुरक्षा की दृष्टि से चारित्रिक व नैतिक आधार पर अपराध का वर्णन हुआ है।

निकायों में 'अच्चय', 'वज्ज' आदि पदों का उल्लेख है जो अपराध की ओर संकेत करते हैं। आपराधिक कार्य हेतु वहाँ 'पापकानी कम्मानी' पदों का प्रयोग हुआ है जो यह संकेत करते हैं कि बुद्ध के दृष्टिकोण से अपराध एक नैतिक प्रश्न या नैतिक समस्या है, इसलिए सभी आपराधिक कार्य नैतिक रूप से गलत कार्य हैं। अतएव जो कार्य अनैतिक एवं सामाजिक-धार्मिक कानूनों के विपरीत हो, अपराध है।

4.4.4 कार्यों के नैतिक मूल्य जाँचने की कसौटी

भगवान् बुद्ध के अनुसार तीन प्रकार के कर्म या प्रवृत्तियाँ हैं—

1. कार्य कम्म (शारीरिक प्रवृत्तियाँ)
2. वचो कम्म (वाचिक प्रवृत्तियाँ)
3. मनो कम्म (मानसिक प्रवृत्तियाँ)

कर्म से अभिप्राय इच्छाशक्ति से है या शरीर, वचन व मन के द्वारा कार्य करने की इच्छा से है। कार्यों के नैतिक मूल्य जाँचने के लिए तीन महत्त्वपूर्ण कसौटियाँ हैं— 1. इच्छाशक्ति, 2. अभिप्राय या इच्छा, 3. कुशल व अकुशल कर्म।

कार्य के उत्तरदायित्व के लिए इच्छा-स्वातंत्र्य आवश्यक है तथा कार्य का उद्देश्य भी नैतिकता-अनैतिकता का निर्णय करता है। एक कुशल कार्य न तो स्वयं को तथा न ही दूसरों को तथा न ही दोनों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाता है तथा जो कार्य इस स्तर के नहीं हैं, वे सब अकुशल कर्म हैं।

चक्कवट्टी सिहनाद सूत्र में कहा गया है—केवल सामाजिक, धार्मिक कानूनों को तोड़ना ही अपराध नहीं है वरन् व्यक्तिगत अकुशल कर्म जैसे लोभ, संग्रह, कामवृत्ति आदि भी अपराध है। यद्यपि ये कर्म प्रत्यक्ष रूप से दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते लेकिन परोक्ष रूप से समाज की व्यवस्थाओं को हानि पहुँचाते हैं। वर्तमान कानून में इन अकुशल कर्मों के लिए कानून व दण्ड का कोई विधान नहीं है और सम्भवतः इन कृत्यों के लिए कानूनी रूप से दण्डित किया भी नहीं जा सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर अकुशल कर्मों की दो श्रेणियाँ की गई हैं—1. जिसका परिणाम इस जीवन में आये तथा 2. जिनका परिणाम भविष्य में आयें।

प्रथम श्रेणी कानूनन दण्डनीय है जबकि दूसरी नहीं।

4.4.5 अपराध का मूल

आज्ञासूत्र में तृष्णा को सभी अपराधों का प्राथमिक कारण माना गया है तथा इसके साथ आर्थिक कारणों को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। चक्कवट्टी सूत्र में कहा गया है—आर्थिक कारण अपराध का मूल है पर यह अंतिम कारण नहीं।

पदार्थों में संग्रह से गरीबी बढ़ती है। गरीबी से चोरी को प्रोत्साहन मिलता है। चोरी से हिंसा, हिंसा से जीवन की क्षति, हत्याएँ, अपराध व अनैतिकता बढ़ती चली जाती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि बुद्ध केवल आर्थिक कारणों को ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपराध के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराते वरन् मनोवैज्ञानिक कारण (तृष्णा) को भी अपराध के लिए जिम्मेदार मानते हैं इसलिए बुद्ध की दृष्टि से अपराध एक जटिल समस्या है तथा जिसकी जड़ें सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों में छिपी है।

4.4.6 अपराधों की रोकथाम

यद्यपि छठी शदी (ई.पू.) में न्यायिक सेवाएँ थी तथा चोरी, व्यभिचार, हत्या आदि अपराध भी मौजूद थे लेकिन बुद्ध अपराध की समस्या का समाधान दण्ड नहीं मानते। चक्कवट्टी सूत्र में कहा गया है—अपराध रोकने के लिए दण्ड कोई निरापद मार्ग नहीं है। ''दण्ड का भय अपराध को रोकता है।'' भगवान् बुद्ध ऐसा भी नहीं मानते। उनके अनुसार भय व्यक्ति को दण्ड से बचने हेतु धोखे की प्रेरणा देता है। अपराध रोकने हेतु दण्ड के साथ व्यक्ति की निजी व सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाना चाहिए। सूत्रों में कहा गया है—'राजा का प्रथम कर्त्तव्य देवताओं के प्रति बलिदान नहीं अपितु प्रजा की आवश्यकताओं को पूरा करना है।' आवश्यकता पूर्ति उन्हें अपराध की ओर भी धकेल सकती है, जैसा कि दीधनिकाय (3.45) में वर्णित है, इसलिए आवश्यकता पूर्ति के साथ-साथ उन्हें ऐसे परिवेश में रखा जाना चाहिए जो नैतिकता के अनुकूल हो और जहाँ नैतिकता व्यवहार हो तथा जहाँ के लोग सच्चे व विवेकी हों। सारांशत: अपराध की समस्या का समाधान है— 1. स्वभाव परिवर्तन, 2. मूल्य व दृष्टिकोण परिवर्तन, 3. जीवनशैली परिवर्तन।

अन्तत: यह कहा जा सकता है कि बौद्ध साहित्य में अपराध-विषयक विचार यत्र-तत्र बिखरे हैं तथा उनको बटोरकर एक जगह एकत्र करने से जो रूप सामने आता है, वह अपराध की रोकथाम हेतु मील का पत्थर बन सकता है। हमें आशावादी होना चाहिए कि काल की अवनति ही काल के उत्कर्ष का हेतु बनेगी और एक दिन पुन: सदाचारी समाज हमें प्राप्त होगा।

4.4.7 पाप संबंधी दृष्टिकोण

अपराध की समस्या हर काल में रही है। वैदिक एवं बौद्ध काल भी इससे अछूते नहीं थें सामाजिक अपराध जब जघन्यता की सीमा पार कर लेती थी, सामान्यत: उसे पाप की संज्ञा दी गईं पाप के सन्दर्भ की नई अवधारणा सम्मुख आईं भगवान बुद्ध के सन्दर्भ में पाप की अवधारणा का उल्लेख धम्मपद के पापवग्गो में हुआ है। उन्होंने कहा था—''यदि मनुष्य पाप करता है तो उसे बार-बार न करें उस पाप में स्वच्छन्दतापूर्वक रत न होवे क्योंकि पाप का संचय दु:खकारी होता है।'' इसके विपरीत पुण्य कर्म के सन्दर्भ में उनका मत था कि ''यदि मनुष्य पुण्य करता है तो उसे बार-बार करे, उस पुण्य में स्वच्छन्दतापूर्वक रत होवे क्योंकि पुण्य का संचय सुखकारी होता है।''

इसके अतिरिक्त पाप एवं पुण्य के सन्दर्भ में बुद्ध की निम्न व्याख्याएँ विषय को समझने में हमारी सहायता कर सकती हैं—

पाप करने वाला मनुष्य तब तक भलाई देखता है, जब तक कि पाप का परिणाम नहीं होता। जब पाप का परिणाम होता है, तब वह पापों को देखता है। भला करने वाला मनुष्य तब तक पाप को देखता है, जब तक कि भलाई का परिणाम नहीं होता। जब भलाई का परिणाम होता है, तब वह भलाई को देखता है।

मनुष्य पाप की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आवेगा। पानी की बूँद-बूँद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पाप (का घड़ा) भर लेता है। मनुष्य पुण्य की अवहलेना न करे कि वह मेरे पास नहीं आवेगा। पानी की बूँद-बूँद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है। इसी प्रकार धैर्यशाली मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पुण्य (का घड़ा) भर लेता है।

पाप की भयावहता से बचने के लिए धम्मपद में उल्लेख आता है कि—

मनुष्य कल्याणकारी कार्य करने के लिए शीघ्रता करे और पाप से चित्त को निवारण करें यदि मनुष्य पुण्यकारी कार्य को धीमी गति से करेगा तो उसका मन पाप में लग जायेगा।

जिस प्रकार बड़ी सम्पत्ति वाला व्यापारी थोड़े साथियों के होने के कारण भयमुक्त मार्ग को त्याग देता है, इसी प्रकार जीने की इच्छा वाला मनुष्य पापों को विष के समान परित्याग कर दें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यदि मनुष्य के हाथ में घाव न हो तो वह हाथ से विष को उठा सकता है। विष घाव रहित अंग पर प्रभाव नहीं डालता। इसी प्रकार न करने वाले को पाप नहीं लगता।

जो मूर्ख मनुष्य दोष रहित, शुद्ध और निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, पाप उस मूर्ख का उसी प्रकार पीछा करता है, जिस प्रकार सूक्ष्म धूलि वायु के विपरीत फेंकी जाने पर पीछा करती है।

कुछ लोग गर्भ में उत्पन्न होते हैं। पाप कर्म करने वाले लोग नरक में गिरते हैं। पुण्य कर्म करने वाले लोग स्वर्ग को जाते हैं और चित्त के मलों से रहित लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों की गुफा में—जगत् में कोई ऐसा प्रदेश विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करके स्थित हुआ मनुष्य पाप कर्म से मुक्त हो सकें

भारतीय परम्परा में अपराध एवं पाप मुक्ति का भी विधान है तथा श्रेष्ठतम युक्ति प्रायश्चित को माना गया है। इसके अतिरिक्त जलमार्जन, यज्ञ, उपवास, सत्य बोलने का संकल्प, जप, तप, दान, शरीर को पीड़ा, प्राणायाम, पवित्र वचन, आदि उपाय भी उल्लिखित हैं, परन्तु उच्चतम महत्त्व आत्मापराध स्वीकृति और पश्चाताप को ही दिया गया है। इसके लिए विस्तृत नियम थे, जैसे सात घरों में भिक्षा माँगते समय अपने अपराध की घोषणा। अर्थात् सार्वजनिक रूप से अपराध की स्वीकृति करनी पड़ती थी। इसी प्रकार, पश्चाताप के बारे में विस्तार से विवेचन रहा है। व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है, उतना ही उसका शरीर उसके द्वारा किये गये पाप से मुक्त होता जाता है। उस पाप का त्याग करने के संकल्प एवं यह सोचने से कि मैं यह पुनः नहीं करूँगा, व्यक्ति पवित्र हो उठता है। तीर्थ यात्रा का पाप-मुक्ति में बहुत महत्त्व माना गया है। पराशर ने तो यहाँ तक कहा है कि चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाले को सेतुबन्ध रामेश्वर जाना चाहिए। उत्तर में वाराणसी का इतना ही महत्त्व था : मेरु पर्वत से भी भारी पाप की गठरी वाराणसी पहुँचने पर कट जाती है। यह भी मनुष्यता से मनुष्यता के परिष्कार का प्रयत्न था। उच्च और पवित्र विचार से जहाँ ज्यादा लोग एकत्रित हों, और जहाँ उच्चता के उपदेश देने वाले साधु और विद्वान उपलब्ध हों, वहाँ के संसर्ग से व्यक्ति उच्चता और पवित्रता को प्राप्त करता है।

हमारे पूर्वज इस निर्धारण को और आगे ले गये हैं, सारी व्यवस्था को उन्होंने सामाजिक स्वरूप दिया है। प्रायश्चित का जहाँ निर्धारण है, वहाँ कहा गया है—1. पापी प्रायश्चित कर लेने से अन्य लोगों के संसर्ग में आने योग्य हो जाता है। 2. प्रायश्चित न करने वाले पापियों से सामाजिक संबंध नहीं करना चाहिए। इन दो बातों को समझ लिया जाए और मान लिया जाय तो इस समय भी बहुत सुधार हो सकता है, जितना गिरना अथवा अपराध करना स्वाभाविक है, उतना ही मनुष्योचित है—प्रायश्चित। भगवान बुद्ध ने भी यह कहकर स्वयं शुद्धि को पाप मुक्ति का साधन माना था कि आदमी अपने आप ही पाप-कर्म करता है, अपने आप ही उससे मैला होता है। अपने आप ही पाप-कर्म से विरत रहता है, अपने आप ही उससे शुद्ध होता है। शुद्धि-अशुद्धि प्रत्येक की व्यक्तिगत बात है। एक-दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

4.4.8 करुणा का दर्शन

बुद्ध की करुणा की बुनियाद अद्वैत है। विविध रूपों में व्यक्त होता जीवन मूलतः अविभाज्य है। स्वरूप मृत्युधर्मी अवश्य है, परन्तु जीवन धारा अस्खलित है। जीवन की बुनियादी एकता के बोध से करुणा पैदा होती है। जीवन के अन्य स्वरूपों के साथ का आत्मोपम्य बुद्ध की करुणा की गंगोत्री है।

'कर्म अच्छा' है या बुरा यह जानने की कसौटी करुणा है। यह कोई स्थानीय, काम चलाऊ, मानवीय आचरण नहीं है। यह तो विश्व निर्मित (कास्मास, ब्रह्माण्ड) का गुंजन है जो कान में गुनगुनाता है। संक्षेप में करुणा नीतिज्ञता की आधारशिला है, सभी नियमों का सार है, सनातन संवादिता का निर्झर है। जो इस संवादिता में व्यवधान पहुँचायेगा वह दुःखी होगा और बोधि प्राप्त होने में विलम्ब को आमंत्रित करेगा। वास्तव में बुद्ध की करुणा का आधार जीवन की एकता है और जहाँ आत्मभाव हो, वहाँ परायापन नहीं टिक सकता। आत्मौपम्य बिना यह संभव नहीं है। करुणा जब जीवन-रसायन बनती है तब कोई 'पराया' नहीं रह सकता। करुणा 'पराये' पर नहीं की जा सकती। वह तो समभाव है, एकत्व की अनुभूति है। एक प्रसंग में बुद्ध ने किसी भिक्षु को रोग के कारण हो रहे दस्त में लोटता देखा। उन्होंने तुरन्त उसे धोकर साफ किया। फिर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उन्होंने भिक्षुओं से कहा, ''हे भिक्षुओं! यदि आप मेरी देखरेख करना चाहते हैं तो इस बीमार की परिचर्या करें।'' परिशुद्ध करुणा सहज है और सम-संवेदना का प्रकटीकरण है।

बुद्ध ने 'करुणा' को ही धर्म की 'इति' नहीं कहा। 'करुणा' का अर्थ दु:खी आदमियों के प्रति दया किया जाना है। बुद्ध ने और आगे बढ़कर 'मैत्री' की शिक्षा दी। 'मैत्री' का मतलब है प्राणी-मात्र के प्रति दया। तथागत चाहते थे कि आदमी दु:खी मनुष्यों के प्रति 'करुणा' की भावना रखने से भी और आगे बढ़कर प्राणि-मात्र के प्रति मैत्री की भावना रखें जिस समय भगवान बुद्ध श्रावस्ती में विराजमान थे, उस समय अपने एक प्रवचन में करुणा एवं मैत्री के सन्दर्भ में निम्न को व्यक्त किया—

1. ''जो परमार्थ के विषय में कुशल है, जो शांति-पद को प्राप्त करना चाहता है, उसे इस प्रकार बरतना चाहिए। उसे समर्थ होना चाहिए, उसे ऋजु-सुऋजु होना चाहिए, उसे सुवच होना चाहिए, उसे मृदु तथा विनम्र होना चाहिए।

2. उसे सन्तोषी होना चाहिए, उसकी आवश्यकताएँ अधिक नहीं होनी चाहिए, उस पर बहुत जिम्मेदारियाँ नहीं होनी चाहिए, उसकी वृत्ति (जीविका) हलकी होनी चाहिए, उसे संयतेन्द्रिय होना चाहिए, उसे ज्ञानी होना चाहिए, उसे अप्रगल्भ होना चाहिए तथा उसे (गृहस्थ) जनों में आसक्त नहीं होना चाहिए।

3. उसे कोई भी छोटी से छोटी ऐसी गलती नहीं करनी चाहिए कि विज्ञजन उसे दोष दे सकें उसकी यही कामना होनी चाहिए कि 'सभी प्राणियों का मंगल हो, सभी प्राणी सकुशल रहें, सभी प्राणी सुखी रहें।'

4. ''कैसे भी प्राणी हों—दुर्बल हों या सबल हों, ऊँचे हों या नीचे हों, मध्यम कद के हों या छोटे कद के हों, आकार के बड़े हों या छोटे हों—कोई भी हों सभी सुखी रहें।''

5. चाहे देखे गये हों और चाहे न देखे गये हों, चाहे समीप रहते हों और चाहे दूर रहते हों, चाहे पैदा हो गये हों, चाहे अभी पैदा होने वाले हों—सभी प्राणी सुखी रहें।

6. कोई एक-दूसरे को धोखा न दें कोई किसी से घृणा न करे, कोई किसी का बुरा न चाहे, कोई किसी से द्वेष न करें

7. जैसे मां अपनी जान देकर भी अपने इकलौते पुत्र की रक्षा के लिए तैयार रहती है, वही भाव आदमियों का सभी प्राणियों के प्रति रहना चाहिए।

8. उसे समस्त लोक में अपनी असीम मैत्री का संचार करना चाहिए—ऊपर, नीचे, तिर्यक, बिना किसी बाधा के, द्वेष भाव से सर्वथा रहित।

9. चाहे वह खड़ा हो, चलता हो, बैठा हो, लेटा हो—जितने समय भी वह जागता रहे—उसे अपनी सतत जागरूकता बनाये रखनी चाहिए; यही श्रेष्ठ जीवन है।

10. ''किसी (मिथ्या) दृष्टि में न पड़े, शीलवान हो, ज्ञानी हो, इन्द्रिय-सुखों में आसक्त न हो—ऐसा होने से ही उसे पुन:-पुन: गर्भ में नहीं आना पड़ता।''

थोड़े शब्दों में भगवान् बुद्ध ने उन्हें कहा—''अपने शत्रुओं से भी प्रेम करों'' बुद्ध की करुणा कैसी निरपवाद है। यज्ञ में होने वाली पशु हिंसा रोकने के लिए वे सब कुछ कर डालते हैं। सुजाता जैसी ग्राम कन्या का भोजन वे प्रेम से स्वीकारते हैं और आम्रपाली (आम्बपाली) जैसी गणिका के यहाँ भोजन करने का निमंत्रण स्वीकार करते हैं। अस्सी वर्ष की वय में उन्होंने चुन्दर लोहार के यहाँ भोजन किया। फिर तत्काल ही पेट में दर्द होना शुरू हुआ। अवसान का समय निकट था। उन्हें दर्द हुआ यह जानकर चुन्द लोहार परेशान होगा, यह मानकर वे आनन्द से कहते हैं—'आनन्द! भोजन कराने के बाद चुन्द लोहार को कोई उलहना दे तो सम्भव है उसे बुरा लगे पर उससे तुम कहना कि सुजाता की खीर मुझे जैसी पोषक और मधुर लगी थी, वैसा ही उसके यहाँ का भोजन लगा है। तथागत जिस दिन परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं, उस दिन दी गयी भिक्षा महाफलदायक है। इस प्रकार उपदेश देकर चुन्द की शंका दूर करना।'

ऐसे करुणामूर्ति बुद्ध की विचारधारा आज के अणुयुग में अधिक समीचीन प्रतीत होती है। जीवन का समग्र विनाश करने में अणुबम जितना सूक्ष्म, जितना व्यापक और जितना निरपवाद है, उतनी ही सूक्ष्म, व्यापक और निरपवाद करुणा पोषित करने हेतु हमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रयास करना पड़ेगा। ऐसी करुणा को जातिनिष्ठा, पक्ष निष्ठा, सम्प्रदाय निष्ठा, ग्रंथ-निष्ठा अभिप्रायनिष्ठा और राष्ट्रनिष्ठा से बचा लेकर जीवन-निष्ठ, मानव-निष्ठ और मूल्य-निष्ठ बनाना होगा। यह सृष्टि संवादिता से भरी हुई है। ब्रह्माण्ड का मधुर संगीत, माने 'कास्मोलाजिकल सिम्फिनी' हमारे द्वारा भंग न हो यह देखना होगा। जीवन की कला, जीवन की लय सम्भाले रहने की कला है। हमारे अस्तित्व में विद्यमान लय जब विश्व की लय के साथ एकरूप बनती है तब संगीति (हारमोनी) पैदा होती है। करुणा माने विकसित मानव का दिव्य-गान। जैन पन्थी प्रज्ञा और करुणा को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते हैं। प्रज्ञा स्थिर है जबकि करुणा गतिशील है। प्रज्ञा माने होना (बीइंग) और करुणा माने बनना (बीकमिंग)। स्वेडनबर्ग 'दिव्य सयानापन' वैदग्ध्य और दिव्यप्रेम की बात करता है। यदि आर्य होने का संबंध प्रज्ञा के साथ हो और प्रेम का संबंध करुणा के साथ हो तो ईसाई धर्म और बौद्धधर्म इस विषय में एकमत हैं। प्रज्ञा-विहीन करुणा अंधी और करुणाविहीन प्रज्ञा पंगु है। आवश्यक है दोनों के बीच समन्वय की। प्रज्ञावान करुणा और करुणावान प्रज्ञा ही आज के विश्व को बचा सकती है। बुद्ध की करुणा विकसित और उद्दात्त होकर वर्तमान व्यवहार में महाकरुणा का रूप धारण करें, यही अपेक्षा है।

4.5 अशोक की व्यावहारिक अहिंसा

मौर्यवंश का यह प्रबल प्रतापी सम्राट भारत का एक ऐसा प्रबल अस्तित्व है, जो पृथ्वी की स्मृति से कभी दूर न होगा। आज से लगभग 2250 वर्ष पूर्व यह प्रतापी पुरुष मगध के सिंहासन पर विराजमान हुआ। सम्राट् होने से प्रथम उन्हें इनके पिता बिंदुसार ने पश्चिमोत्तर प्रदेश का मण्डलेवर (गवर्नर) बना दिया था। इस प्रान्त का मुख्य नगर तक्षशिला था, जो समस्त एशिया और यूनान में लब्ध-प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। इसलिए एक तो विद्या का केन्द्र होने से, दूसरे राजनीति सीमा होने से यह स्थल पृथ्वी-भर की महाजातियों के आवागमन का माध्यम नगर बन गया था। यहाँ रहकर अशोक ने बहुत दुर्लभ सत्संग प्राप्त किया। इसके पश्चिम में यवन साम्राज्य था, उत्तर में अदम्य जंगली जातियाँ थीं और उत्तर-पूर्व में चीन-साम्राज्य था। अत: अशोक को ऐसे नाजुक स्थल पर ऐसे उत्तरदायित्व के पद पर रहने से अपनी नीतिमत्ता, शासनपटुता और विकास का बड़ा अवसर मिला। यहाँ से अशोक मध्य भारत के मण्डलेवर बनाकर भेज दिए गए, जिसकी राजधानी उज्जैन थी। उज्जैन उन दिनों महानगरी थी। तक्षशिला में रहकर जहाँ अशोक को अन्तर्जातीय व्यवहार, विदेशी नीति आदि का ज्ञान हुआ, वहाँ उज्जैन में व्यापार शिल्प और घरेलू प्रबन्ध की बातें सीखने का बड़ा सुयोग हाथ लगा। अशोक का अभिषेक 2832 युधिष्ठिराब्दि में हुआ था।

अशोक बौद्ध धर्म के सबसे बड़े राजाश्रयदाता थें बौद्ध साहित्य के अनुसार अशोक अपनी जवानी में क्रोधपूर्ण स्वभाव के कारण चंड अशोक कहलाते थें तब वह विदिशा के राज्यपाल नियुक्त हुए। वहीं के एक धनी व्यापारी की लड़की से उन्होंने विवाह किया। जब उन्हें पता चला कि उनके पिता बिंदुसार मृत्यु-शैय्या पर हैं, तब वह पाटलिपुत्र पहुँचे और अपने भाई को छोड़ उन्होंने सबका वध किया। चार वर्ष तक जनता अशोक से इस तरह नाराज थी कि राज्याभिषेक जनता के क्रोध की शांति के बाद ही हो सका। अशोक के 13वें शिलालेख से पता चलता है कि अभिषेक के नवें वर्ष अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। इस समय अशोक का शासन समस्त उत्तर-भारत में और दक्षिण में मैसूर तक फैला हुआ था। कलिंग, जो बंगाल की खाड़ी के किनारे-किनारे महानदी गोदावरी के बीच में था और राजनैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था—स्वतंत्र था। इस युद्ध में कलिंग राज 60 हजार पैदल, 1000 सवार और 700 हाथी लेकर आया था। यह युद्ध देर तक होता रहा। अन्त में वह साम्राज्य में मिला लिया गया। इस युद्ध में डेढ़ लाख मनुष्य कैद किये गये थे और 1 लाख वध किये गयें बहुत से यों ही मर गए। इस महान् नर-हत्या से सम्राट का हृदय हिल गया। इसी समय उपगुप्त बौद्ध-भिक्षु से भेंट हुई और उन्होंने महामना तिष्य पुत्र मौगली के आदेशानुसार उसे बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। वे बौद्ध हो गए। पहले उपासक हुए, फिर संघ के सदस्य हुए; इसके बाद यह प्रबल प्रतापी सम्राट ऐसा प्रसिद्ध धर्मार्थ हुआ, जिसके जोड़ का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं।

उन्होंने निश्चय किया कि अब कोई सैनिक अभियान नहीं करेंगे, बल्कि धर्मविजय करें भाबरू शिलालेख में सात ऐसे अंश मिलते हैं, जो कि पालि साहित्य में भी पाए जाते हैं। अशोक चाहते थे कि ये अंश जन- साधारण तक पहुँचें। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष वे लुंबिनि वन के उद्यान में पहुँचे और उन्होंने एक स्तम्भ लगवाया, जिस पर एक उत्कीर्ण लेख है। इस यात्रा के उपलक्ष्य में वहाँ रहने वाले लोगों को अशोक ने कर देने से मुक्त कर दिया। वह सारनाथ और बोधगया भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गए। सारनाथ में एक खंडित स्तम्भ मिला है, जिससे जान पड़ता है कि जो भी बौद्ध संघ की एकता को तोड़ना चाहे, उन्हें बहिष्कृत करने का आदेश अशोक ने दिया था। पालि सिगालोवाद सुत्त (दीघनिकाय) में अशोक के धम्म-विषयक विचार गँथित हैं। वह अन्य सब धर्म-पंथों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देते हैं। श्रमण, ब्राह्मण, आजीविक, जैन आदि के प्रति वह एक-सा व्यवहार करना चाहते हैं। यह भी सुपरिचित है कि आजीविकों के लिए उन्होंने गुफाएँ दान में दी थीं। कई प्राणियों की हिंसा उन्होंने निषिद्ध मानी। जीव को जीव पर जीना आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि पशुओं को बधिया बनाना और उन्हें नाल ठोकना भी, कुछ विशेष बौद्ध पर्व-दिनों पर निषिद्ध कर दिया गया था।

अशोक ने अपने साम्राज्य में विभिन्न श्रेणियों के धर्मप्रचारक नियुक्त किए। वह स्वयं धार्मिक यात्राएँ करते थें स्थान-स्थान पर उन्होंने शिलालेख उत्कीर्ण कराए। वृक्षारोपण किया, कुंए खुदवाए—न केवल अपने देश में परन्तु पड़ोसियों के देश में भी, यथा—चोल, पांड्या आदि देशों में विदेशों में भी उन्होंने धर्म प्रचारक भेजें उत्तर में यवनों के देश में, गांधार, कश्मीर, हिमाचल प्रदेश में, पश्चिम में अपरांतक में, दक्षिण में वनवासी और मैसूर में, श्रीलंका और सुवर्ण-भूमि (मलाया, सुमात्रा) में तथा सीरिया के राजा एंटिओकस (अंतियोक) द्वितीय तथा अन्य चार राजाओं के राज्य में भेजे गए। उदाहरणार्थ—मिस्र के तालेमी (तुरमेय), मकदूनिया के एंटिगोनस (अंतकिनि), इपिरस के अलैक्जेंडर (अलिकसुंदर), सिरैनिया के मागाओं के पास उत्तरी अफ्रीका में भी ये धर्म-प्रचारक भेजे गए। इस संदर्भ में उसने यावन, कंबोज, पांड्या, चोल, आंध्र, पुलिंद, श्रीलंका आदि के नामों का उल्लेख किया है। प्राय: इन सब देशों में अशोक ने अस्पताल खुलवाए, कुएँ और तालाब खुलवाए और वृक्ष तथा औषधियों की वनस्पतियाँ सबके सुख और कल्याण के लिए रोपीं। बुद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार और प्रसार में अशोक का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

अशोक ने उसकी धर्माज्ञाएँ, जो समय-समय पर उसने प्रचारित की थीं, गुफाओं, स्तम्भों और शिला-खण्डों पर खुदवाई हैं। उन धर्माज्ञाओं से अशोक साम्राज्य का विस्तार और उस सम्बन्ध की बहुत-सी बातों का ज्ञान होता है तथा अहिंसा के व्यवहार का दर्शन होता है। इन धर्म लेखों में से कुछ प्रमुख निम्न हैं—

धर्मलेख — 1

यह सूचना देवताओं के प्यारे राजा पियदसी की आज्ञा से खुदवाई गई हैं। यहां इस पृथ्वी पर कोई किसी जीवधारी जन्तु को बलिदान अथवा भोजन के लिए न मारें राजा पियदसी ऐसे भोजन में बहुत-से पाप देखता है। पहले ऐसे भोजन की आज्ञा थी और देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के रसोई-घर में तथा भोजन के लिए प्रतिदिन हजारों जीव मारे जाते थें जिस समय यह सूचना खोदी जा रही है, उस समय उसके भोजन के लिए केवल तीन जीव अर्थात् दो पक्षी और 1 हिरन मारे जाते हैं, और उनमें से हिरन नित्य नहीं मारा जाता। भविष्यत् में ये तीनों जीव भी नहीं मारे जाएँगें

धर्मलेख — 2

देवताओं के राजा पियदसी के राज्य में सर्वत्र और सीमा प्रदेश में रहने वाली जातियों तथा चोलुपण्ड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र के राज्यों में ताम्रपणि तक, यूनानियों के राजा एबिट, ओकस और उसके आस-पास के राजाओं के राज्य में सर्वत्र देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने दो प्रकार की औषधियों के दिए जाने का प्रबन्ध किया है अर्थात् मनुष्यों और पशुओं के लिए औषधि। जहाँ कहीं मनुष्यों और पशुओं के लिए लाभदायक पौधे नहीं होते, वहाँ वे ले जाकर लगाये गए हैं, और सर्व-साधारण के मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के लिए कुएँ खुदवाये गये हैं।

धर्मलेख — 3

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने इस भांति कहा—अपने राज्याभिषेक के बरहवें वर्ष में मैंने इस प्रकार आज्ञाएँ दीं। मेरे राज्य में सर्वत्र धर्मयुत, राजुक और नगरों में राज्याधिकारी पांच वर्ष में एक बार एक सभा (अनुसम्यान) में एकत्रित हों और अपने कर्त्तव्य के अनुसार इस प्रकार धर्म की शिक्षा दें—

''अपने पिता, माता, मित्रों, संगियों और सम्बन्धियों की धर्मयुत सेवा करना अच्छा और उचित है।'' तब राजुक धर्मयुतों को मन और वाक्य से विस्तार पूर्वक शिक्षा देगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्मलेख — 4

प्राचीन समय में कई सौ वर्षों तक जीवों का वध, पशुओं पर निर्दयता, संबंधियों के सत्कार का अभाव और ब्राह्मणों और श्रीमानों के सत्कार का अभाव चला आया है, परन्तु आज राजा पियदसी ने, जो देवताओं का प्रिय और धर्मकाज में बड़ा भक्त है, ढिंढोरा पिटवाकर और लाव-लश्कर मशाल और स्वर्गीय वस्तुओं को अपनी प्रजा को दिखलाकर धर्म को प्रकट किया। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी को इन धर्म-शिक्षाओं के प्रचार के लिए धन्यवाद है कि आज जीवधारी पशुओं का सत्कार, माता-पिता की आज्ञा का भक्ति के साथ पालन और वृद्धों का आदर होता है, जैसा कि कई शताब्दियों तक नहीं रहा। अन्य विषयों की भांति इस विषय में भी धर्म का विचार किया गया है और देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसको बराबर प्रचलित रखेगा। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के पुत्र, पौत्र और परपौत्र इस धर्म के प्रचार को सृष्टि के अन्त तक रक्षित रखेंगें धर्म और भलाई में दृढ़ रहकर वे लोग धर्म की शिक्षा देंगे, क्योंकि धर्म की शिक्षा देना सब कार्यों से उत्कृष्ट है और भलाई के बिना कोई धर्म का कार्य नहीं होता। धार्मिक प्रेम का दृढ़ होना और उसकी वृद्धि होना वांछनीय है। इस उद्देश्य से यह शिलालेख खुदवाया गया है कि वे लोग अपने को इस सर्वोच्च भलाई के कार्य में लगावें और उसकी अवनति न होने दें। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी से इसको अपने राजगद्दी पर बैठने के बारह वर्ष पीछे खुदवाया है।

धर्मलेख — 5

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस भांति बोला—पुण्य करना कठिन है और जो लोग पुण्य करते हैं, वे कठिन कार्य करते हैं। मैंने स्वयं बहुत-से पुण्य के कार्य किये हैं। और, इसी भाँति मेरे पुत्र-पौत्र और मेरी सबसे अन्तिम सन्तति कल्पांत तक पुण्य के कार्य करेगी। और, जो इस कार्य के करने में चूकेगा, वह पाप का भागी होगा। पाप करना सहज है। देखो, प्राचीन समय में धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी (धर्ममहामात्र) नहीं थें परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म के प्रबन्ध करने वाले नियत किये हैं। वे लोग सब सम्प्रदाय के लोगों से धर्म के स्थापित करने और उन्नति करने के लिए और धर्मयुतों की भलाई करने के लिए मिलते हैं। वे योद्धाओं और ब्राह्मणों के साथ गरीब-अमीर और वृद्धों के साथ, उनकी भलाई और सुख के लिए और सत्यधर्म के अनुयायियों के मार्ग को सब विघ्नों से रहित करने के लिए मिलते हैं। जो लोग बंधनों में हैं, उन्हें वे सुख देते हैं और उनकी बाधाओं को दूर करके उन्हें मुक्त करते हैं क्योंकि उन्हें अपने कुटुम्ब का पालन करना पड़ता है, वे धोखे का शिकार हुए हैं और वृद्धावस्था ने उन्हें आ घेरा है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में मेरे भाई-बहनों और अन्य सम्बन्धियों के घर में यत्न करते हैं। सर्वत्र धर्ममहामात्र लोग सच्चे धर्म के अनुयायियों, धर्म में लगे हुए और धर्म में दृढ़ लोगों और दान करने वाले के साथ मिलते हैं। इसी उद्देश्य से यह सूचना खुदवाई गई है।

धर्मलेख — 6

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—प्राचीन समय में हर समय कार्य करने और विवरण सुनने की ऐसी प्रणाली कभी नहीं थी। इसे मैंने ही किया है। हर समय, खाने के समय, विश्राम के समय, शयनागार में, एकांत में अथवा वाटिका में, सर्वत्र वे कर्मचारी लोग मेरे पास आते-जाते हैं, जिन्हें मेरी प्रजा के काम-काज के विषय की सूचना का भार दिया गया है और में अपनी प्रजा के संबंध की बातें उनके द्वारा कहला देता हूँ। स्वयं मेरे मुख से कही हुई शिक्षाओं को मेरे धर्ममहामात्र लोग प्रजा से कहते हैं। इस प्रकार मैंने यह आज्ञा दी है कि जहाँ कहीं धर्मोपदेशकों की सभाओं में मतभेद या झगड़ा हो, उसकी सूचना मुझे सदा मिलनी चाहिए क्योंकि न्याय के प्रबंध में जितना उद्योग किया जाये, थोड़ा है। मेरा यह धर्म है कि में शिक्षा द्वारा लोगों की भलाई करूं। निरन्तर उद्योग और न्याय का उचित प्रबंध सर्वसाधारण के हित की जड़ है और इससे अधिक फलदायक कुछ नहीं है। अतएव मेरे सब यत्नों का एक यही उद्देश्य अर्थात् सर्वसाधारण से इस प्रकार उऋण होना है। में यहां इसके नीचे उन्हें इतना सुखी रखता हूँ, जितना मेरे किये हो सकता है। वे भविष्यत् में स्वर्ग में सुख पावें। इसी उद्देश्य से मैंने यह सूचना यहाँ खुदवाई है कि वह बहुत समय तक बनी रहे और मेरे पुत्र-पौत्र मेरी भांति सर्वसाधारण का हित करें। इस बड़े उद्देश्य के लिए बहुत ही अधिक उद्योग की आवश्यकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्मलेख — 7

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की यह बड़ी अभिलाषा है कि सब स्थानों में सब जातियाँ अपीड़ित रहें, वे सब समान रीति से इन्द्रियों का दमन करें और आत्मा को पवित्र बनावें, परन्तु मनुष्य अपनी संसारी बातों में अधीर हैं। इस कारण लोग जिन बातों को मानते हैं, उनके अनुसार कार्य पूर्ण रीति से नहीं करते और जो लोग बहुत-सा दान नहीं देते वे भी अपनी इन्द्रियों को दमन और आत्मा को पवित्र कर सकते हैं और अपनी भक्ति में कृतज्ञता और सच्चाई रख सकते हैं और यही प्रशंसनीय है।

धर्मलेख — 8

प्राचीन समय में राजा लोग अहेर खेलने जाया करते थें यहां इस भूमिक के नीचे वे अपने जी बहलाने के लिए शिकार तथा अन्य प्रकार के खेल करते थें में, देवताओं के प्रिय राजा, पियदसी ने अपने राज्याभिषेक के दस वर्षों के उपरांत सत्य ज्ञान को प्राप्त किया। अतएव मेरे जी बहलाने के कार्य ये हैं, अर्थात् ब्राह्मणों, श्रीमानों से भेंट करना और उनको दान देना, वृद्धों से भेंट करना, द्रव्य बांटना, राज्य में प्रजा से भेंट करना और उन्हें धार्मिक शिक्षा तथा धर्मिक विषयों पर सम्मति देना। इस प्रकार देवताओं का प्रिय राजा पियदसी अपने भले कर्मों से उत्पन्न हुए सुख को भोगता है।

धर्मलेख — 9

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला। लोग बीमारी में, पुत्र व कन्या के विवाह में, पुत्र के जन्म पर और यात्रा में जाने के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान करते हैं। इन अवसरों तथा ऐसे ही अन्य अवसरों पर लोग भिन्न-भिन्न विधान करते हैं। परन्तु ये असंख्य और भिन्न प्रकार के विधान, जिन्हें अधिकांश लोग करते हैं, व्यर्थ और निरर्थक हैं। परन्तु इन सब रीतियों को करने की चाल बहुत दिनों से चली आती है, यद्यपि उनका कोई फल नहीं होता। परन्तु इसके विरुद्ध धर्म-कार्य करना बहुत ही अधिक यश की बात है। गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना और संबंधियों तथा शिक्षकों का सत्कार करना प्रशंसनीय है। जीवों पर दया और ब्राह्मणों तथा श्रीमानों को दान देना प्रशंसनीय है। मैं इन तथा ऐसे ही अन्य भलाई के कार्यों को धर्म-कार्य का करना कहता हूँ। पिता या पुत्र, भाई या गुरु को कहना चाहिए कि यही प्रशंसनीय है, और इसी का साधन तब तक करना चाहिए जब तक उद्देश्य प्राप्त न हो जायें यह कहा जाता है कि दान देना प्रशंसनीय है, परन्तु कोई दान इतना प्रशंसनीय नहीं, जितना धर्म का दान अर्थात् धर्म की शिक्षा देना। इसलिए मित्र, संबंधी या संगी को यह सम्मति देनी चाहिए कि अमुक-अमुक अवस्थाओं में यह करना चाहिए—यह प्रशंसनीय है। इसमें विश्वास रखना चाहिए कि ऐसे आचरण से स्वर्ग मिलता है, और मनुष्य को उत्साह के साथ उसे स्वर्ग का मार्ग समझकर करना चाहिए।

धर्मलेख — 10

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इसके अतिरिक्त किसी प्रकार के यश व कीर्ति को पूर्ण नहीं समझता कि उसकी प्रजा वर्तमान में और भविष्य में उसके धर्म को माने और उसके धर्म के कार्य करें इसी यश और कीर्ति को देवताओं का प्रिय राजा पियदसी चाहता है। देवताओं के प्रिय राजा पियदसी के सब उद्योग आगामी जीवन में मिलने वाले फलों के लिए तथा जीवन-मरण से बचने के लिए है। क्योंकि जीवन-मरण दु:ख है। परन्तु इस फल को प्राप्त करना छोटों और बड़ों—दोनों ही के लिए कठिन है, जब तक वे अपने को सब वस्तुओं से अलग करने का दृढ़ उद्योग न करें। विशेषत: बड़े लोगों के लिए इसका उद्योग करना बड़ा कठिन है।

धर्मलेख — 11

देवताओं के पियदसी ने इस प्रकार कहा—धर्म के दान, धर्म की मित्रता, धर्म की भिक्षा और धर्म के सम्बन्ध के समान कोई दान नहीं है। निम्नलिखित बातें करनी चाहिए—अर्थात् गुलामों और नौकरों पर यथोचित ध्यान रखना, माता-पिता की आज्ञा पालन करना, मित्रों, संगियों, सम्बन्धियों, श्रीमानों और ब्राह्मणों की ओर उदार भाव रखना और प्राणियों के जीवन का सत्कार। पिता को, पुत्र या भाई, मित्र, संगी या पड़ोसी को भी यही शिक्षा देनी चाहिए कि यह प्रशंसनीय है और इसे करना चाहिए। इस प्रकार यत्न करने में उसे इस संसार में तथा आने वाले जीवन में फल प्राप्त होता है, धर्म के दान से अन्त में यश मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्मलेख — 12

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी सब पन्थ के लोगों का, संन्यासियों और गृहस्थों—दोनों ही का सत्कार करता है। वह उन्हें शिक्षा तथा अन्य प्रकार के दान देकर सन्तुष्ट करता है, परन्तु देवताओं का प्रिय ऐसे दान या सत्कार को उनके वास्तविक धर्म-आचरणों की उन्नति के उद्योग के सामने कुछ नहीं समझता। यह सत्य है कि भिन्न-भिन्न पंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुण्य समझे जाते हैं, परन्तु उनका सबका एक ही आधार है और वह आधार सुशीलता और सम्भाषण में शांति का होना है। इस कारण किसी को अपने पंथ की बड़ी प्रशंसा और दूसरों के पंथ की निन्दा नहीं करनी चाहिए। किसी को यह नहीं चाहिए कि उनका सब अवसरों पर उचित सत्कार करें इस प्रकार यत्न करने से मनुष्य दूसरों की सेवा करते हुए भी अपने पन्थ की उन्नति कर सकते हैं। इसके विरुद्ध यत्न करने से मनुष्य अपने पन्थ की सेवा नहीं करता और दूसरों के साथ भी बुरा व्यवहार करता है और जो कोई अपने पन्थ में भक्ति रखने के कारण उसकी उन्नति के लिए उसकी प्रशंसा और दूसरे पन्थों की निन्दा करता है, वह अपने पन्थ में केवल कुठार मारता है। इसलिए केवल मेल ही प्रशंसनीय है, जिससे सब लोग एक-दूसरे के मतों को सहन करते और सहन करने में प्रेम रखते हैं। देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब पन्थ के लोगों को शिक्षा दी जाए और उनके सिद्धांत शुद्ध हों। सब लोगों को चाहे उनका मत कुछ भी क्यों न हो, यह कहना चाहिए कि देवताओं का प्रिय वास्तविक धर्माचरण की उन्नति और सब पन्थों में परस्पर सत्कार की अपेक्षा दान और बाहरी विधानों को कम समझता है। इसी उद्देश्य से धर्म का प्रबन्ध करने वाले कर्मचारी, स्त्रियों के लिए कर्मचारी, निरीक्षक और अन्यान्य कर्मचारी लोग कार्य करते हैं। इसी का फल मेरे धर्म की उन्नति और धर्म-दृष्टि से उसका प्रचार है।

धर्मलेख — 13

कलिंग का देश, जिसे देवताओं के प्रिय राजा पियदसी ने जीता है, बहुत बड़ा है। इसमें लाखों जीव और लाखों प्राणी गुलाम बनाये गये हैं और लाखों का वध किया गया है। कलिंग विजय करने के समय से देवताओं का प्रिय राजा धर्म की ओर फिरा है, धर्म में रत है, धर्म के लिए उत्सुक है और उसने अपने को धर्म के प्रचार में लगाया है—कलिंग विजय करने पर देवताओं के प्रिय को इतना अधिक पश्चाताप हुआ। इस देश को, जो मेरे अधीन नहीं था, विजय करने में देवताओं के प्रिय ने देशवासियों के वध और गुलाम बनाये जाने के लिए बहुत अधिक पश्चाताप किया है। सर्वत्र ब्राह्मण या श्रीमान, संन्यासी या गृहस्थ लोग रहते हैं और ऐसे लोगों में अधिकारियों के लिए सत्कार, माता-पिता की आज्ञा मानना, मित्रों और सम्बन्धियों से प्रीति, नौकर पर ध्यान रखना और भक्ति में सच्चाई पाई जाती है। ऐसे मनुष्यों पर कठोरता होती है, उनकी मृत्यु होती है तथा प्रिय लोगों से उनका वियोग होता है और यदि विशेष रक्षा में रहकर वे स्वयं हानि से बच भी जाएं तो भी उनके मित्र, जान-पहचान के लोग, संगी और सम्बन्धी लोग उजड़ जाते हैं और इस प्रकार उन्हें भी क्लेश उठाना पड़ता है। में, जो देवताओं का प्रिय हूँ, इस प्रकार की कठोरताओं का बड़ा अधिक अनुभव करता और उन पर पश्चाताप करता हूँ। कोई ऐसा देश नहीं है और किसी देश में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ लोग किसी-न-किसी धर्म को न मानते हों।

कलिंग देश में इतने अधिक लोगों के डूब जाने, उजड़ जाने, मारे जाने और गुलाम बनाये जाने के कारण देवताओं का प्रिय इसका आज हजार गुना अधिक अनुभव कर रहा है।

देवताओं का प्रिय सब प्राणियों की रक्षा, जीवन के सत्कार, शांति और दया के आचरण का उत्सुक हृदय से अभिलाषी है। इसी को देवताओं का प्रिय धर्म का विजय करना समझता है। अपने राज्य तथा उसके सब सीमा-प्रदेशों में, जिसका विस्तार कई सौ योजन है, इन्हीं धर्म के विजयों में देवताओं का प्रिय बड़ा प्रसन्न होता है। उसके पड़ोसियों में यवनों का राजा एन्टिओकस और एन्टिओकस के उपरान्त चार राजा लोग अर्थत् टोलेमी, एन्टिगोनस, मेगेस और सिकन्दर दक्षिण से तबपन्नी नदी तक चोल तथा पंड्य लोग और हेनराज विस्मवसी भी, यूनानियों और कम्बोजों में नाभक और नाभपंति लोग भोज और पेतेनिक लोग अन्ध्र और पुलिन्द लोग सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय भी धार्मिक शिक्षाओं के अनुकूल हैं। जहाँ कहीं देवताओं के प्रिय के दूत भेजे गये, वहां लोगों ने देवताओं के प्रिय की ओर से जिस धर्म के कर्त्तव्यों की शिक्षा दी गई, उसे सुना और उस धर्म तथा धार्मिक शिक्षाओं से सहमत हुए और सहमत होंगे... इस प्रकार विजय चारों ओर फैलाई गई है। मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है, धर्म के विजय से ऐसा सुख ही होता है। पर सच तो यह है कि यह आनन्द एक दूसरी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बात है। देवताओं का प्रिय केवल उन फलों को बहुत अधिक समझता है जो दूसरे जन्म में अवश्य मिलेंगें इसी उद्देश्य से यह धार्मिक शिलालेख खुदवाया गया है कि हमारे पुत्र और पौत्र यह न सोचें कि किसी नवीन विजय की आवश्यकता है, वे यह न विचारें कि तलवार से विजय करना 'विजय' कहलाने योग्य है, वे उनमें नाश और कठोरता के अतिरिक्त कुछ न देखें, वे धर्म की विजय को छोड़कर और किसी प्रकार की विजय को सच्ची विजय न समझें। ऐसी विजय का फल इस लोक तथा परलोक में होता है। वे लोग केवल धर्म में प्रसन्न रहें, क्योंकि उसी का फल लोक और परलोक में होता है।

धर्मलेख — 14

यह सूचना देवताओं के प्रिय राजा पियदसी की खुदवाई हुई है। वह कुछ तो संक्षेप में, कुछ साधारण विस्तार की और कुछ बहुत विस्तृत है। अभी सब का एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि मेरा राज्य बड़ा है और मैंने बहुत-सी बातें खुदवाई है। और बहुत-सी बातें अभी और खुदवाऊँगा। कुछ बातें दोहराकर लिखी गई हैं क्योंकि में उन बातों पर विशेष जोर देना चाहता हूँ। प्रतिलिपि में दोष हो सकते हैं—यह हो सकता है कि कोई वाक्य कट गया हो या अर्थ और का और समझा जायें यह सब खोदने वाले कारीगर का काम है।

यह अशोक की चौदहों प्रसिद्ध सूचनाएँ हैं, जिसके द्वारा उसने—1. पशुओं के वध का निषेध किया, 2. मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध किया, 3. पांचवे वर्ष एक धार्मिक उत्सव किये जाने की आज्ञा दी, 4. धर्म की शोभा प्रकट की, 5. धर्म महाभावों और उपदेशकों को नियत किया, 6. सर्व-साधारण के सामाजिक और गृह-सम्बन्धी जीवनके आचरणों के सुधार के लिए आचार शिक्षक नियत किए, 7. सबके लिए धार्मिक अप्रतिरोध प्रकट किया, 8. प्राचीन समय के हिंसक कार्यों के स्थान पर धार्मिक सुखों की प्रशंसा की, 9. धार्मिक शिक्षा और सदुपदेश देने की महिमा लिखी, 10. सत्य-धर्म के प्रचार करने की कीर्ति और सत्य वीरता की प्रशंसा की, 11. सब प्रकार के दानों में धार्मिक शिक्षा के दान को सर्वोत्तम कहा, 12. सार्वजनिक सम्मति के सम्मान और आचार के प्रभाव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर अन्य धर्म के लोगों को अपने मत में लेने की इच्छा प्रकट की, 13. कलिंग के विजय का उललेख किया और उन पांच यूनानी राजाओं तथा भारतवर्ष के राज्यों के नाम लिखे, जहाँ धर्मोपदेशक भेजे गये थे, और अन्त में 14. उपर्युक्त शिला लेखों का सारांश दिया और सूचनाओं के खुदवाने के विषय में कुछ वाक्य लिखें वृत्तान्त से वे भरी हुई हैं।

संक्षेप में इस धार्मिक सम्राट् ने—1. अपने धर्म-सम्बन्धी कर्मचारियों को उत्साह और धार्मिक चिन्ता के साथ कार्य करने का उपदेश किया है, 2. दया, दान, सत्य और पवित्रता को धर्म कहा है, 3. आत्म-परीक्षा करने और पाप से बचने के लिए जोर देकर उपदेश दिया है, 4. लोगों को धार्मिक शिक्षा देने का कार्य रज्जुकों को सोंपा है और जिन लोगों को फाँसी की आज्ञा हो, उनके लिए तीन दिन की अवधि दी है, 5. भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं के वध का निषेध किया है, 6. अपनी प्रजा पर अपना हित प्रकट किया है और सब पन्थ के लोगों के बौद्ध हो जाने की आशा प्रकट की है, 7. यह आशा प्रकट की है कि उसकी सूचनाएँ तथा धर्मोपदेश लोगों को सत्य पथ पर चलने के लिए उद्यत करेंगे और 8. अन्त में अपने सर्व- साधारण के हित के कार्यों और लोगों की धर्मोन्नति के उपायों का पुनरुल्लेख किया है और सदाचार की शिक्षा द्वारा लोगों को अपने मत में लाने की आज्ञा दी है।

अशोक के व्यावहारिक अहिंसा की प्रतिष्ठा को स्थापित करने वाले निम्न स्तम्भ लेख भी महत्त्वपूर्ण सूचना प्रदान करते हैं—

प्रथम स्तम्भ-लेख—

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। धर्म में अत्यन्त उत्साह, कठोर निरीक्षण, पूरी तरह आज्ञा-पालन करने और निरन्तर उद्योगों के बिना मेरे कर्मचारियों को इस लोक तथा परलोक में सुख पाना कठिन है। पर मेरी शिक्षा को धन्यवाद है कि धर्म के लिए यह चिन्ता और उत्साह बढ़ रहा है और दिन-दिन बढ़ेगा और मेरे उच्च श्रेणी के, मध्यम श्रेणी के तथा नीचे की श्रेणी के कर्मचारी लोग उसके अनुसार चलते हैं और लोगों को सत्यमार्ग बतलाते हैं तथा उन्हें हर्षित रखते हैं और इसी प्रकार मेरे सीमा-प्रदेश के कर्मचारी (अन्तमहामात्र) भी कार्य करते हैं, क्योंकि नियम यह हैं—

धर्म से शासन, धर्म से कानून, धर्म से उन्नति और धर्म से रक्षा।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्वितीय स्तम्भ-लेख—

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—धर्म उत्तम है। पर यह पूछा जा सकता है कि यह धर्म क्या है? धर्म थोड़ी-से-थोड़ी बुराई और अधिक-से-अधिक भलाई करने में है, वह दया, दान, सत्य और पवित्र जीवन में है। इसलिए मैंने मनुष्यों, चौपायों और जल-जन्तुओं के लिए सब प्रकार के दान दिए हैं, मैंने उनके हित के लिए बहुत-से कार्य किये हैं, यहाँ तक कि उनके पीने के लिए जल का भी प्रबन्ध किया है और बहुत-से अन्य प्रशंसनीय कार्य किये हैं। इस हेतु मैंने यह सूचना खुदवाई, जिसमें लोग उसके अनुसार चलें और सत्य-पथ को ग्रहण करें और यह बहुत काल तक स्थिर रहे जो इसके अनुसार कार्य करेगा, वह भला और प्रशंसनीय कार्य करेगा।

तृतीय स्तम्भ-लेख—

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—मनुष्य केवल अपने-अपने अच्छे कार्यों को देखता है और कहता है कि मैंने यह अच्छा कार्य किया है। पर वह अपने बुरे कार्यों को नहीं देखता और यह नहीं कहता कि मैंने यह बुरा कार्य किया, यह पाप है। यह सच है कि ऐसी जाँच करना दु:खदायी है, परन्तु यह आवश्यक है कि अपने मन में यह प्रश्न किया जाये और यह कहा जाये कि ऐसी बातें, यथा—दुष्टता, निर्दयता, क्रोध और अभिमान पाप हैं। सावधानी से अपनी परीक्षा करते और कहते रहना आवश्यक है कि में ईर्ष्या को स्थान न दूंगा और न दूसरों की निन्दा करूंगा। यहाँ मेरे लिए यह फलदायक होगा, यथार्थ में यह दूसरे जन्म में और भी लाभदायक होगा।

चतुर्थ स्तम्भ-लेख—

देवताओं के प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने यह सूचना खुदवाई है। मैंने लाखों निवासियों के लिए रज्जुकों को नियत किया है। मैंने रज्जुकों को दण्ड देने का अधिकार अपने हाथ में रखा है, जिसमें वे पूरी दृढ़ता और रक्षा के साथ अपना कार्य करें और मेरे राज्य के लोगों की भलाई और उन्नति करें। वे उन्नति और दु:ख दोनों की बराबर जाँच करते रहते हैं और धर्मयुतों के साथ वे मेरे राज्य के लोगों को शिक्षा देते हैं, जिनसे लोग सुख और भविष्यत् में मुक्ति प्राप्त कर सकें। नज्जुक लोग मेरी आज्ञा-पालन करते हैं, पुरुष लोग भी मेरी इच्छा और आज्ञाओं का पालन करते हैं और मेरे उपदेशों का प्रचार करते हैं, जिसमें रज्जुक लोग सन्तोषजनक कार्य करें। जिस भाँति कोई मनुष्य अपने बच्चे को किसी सचेत दाई को देकर निश्चित रहता है, और सोचता है कि मेरा बच्चा सचेत दाई के पास है, उसी भाँति मैंने भी अपनी प्रजा के हित के लिए रज्जुक लोगों को नियत कया है और जिसमें वे दृढ़ता और रक्षा के साथ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य करें, मैंने उनको अभियुक्त करने और दण्ड देने का अधिकार स्वयं अपने हाथ में रखा है। अभियुक्त करने और दण्ड देने में दृष्टि से देखना चाहिए। इसलिए आज की तिथि से यह नियम किया जाता है कि जिन कैदियों का न्याय हो गया है और जिन्हें फाँसी देने की आज्ञा हुई है, उनके लिए तीन दिन की अवधि दी जाए।

उनको सूचना दी जाएगी कि वे तीन दिन तक जीवित रहेंगें न इससे अधिक और न इससे कम। इस प्रकार अपने जीवन की सूचना पाकर वे अपने दूसरे जन्म के हित के लिए जीवन-दान देंगे अथवा व्रत रखेंगें मेरी इच्छा है कि बंदीगृह में भी उन्हें भविष्यत् का निश्चय दिलाना चाहिए और मेरी यह दृढ़ अभिलाषा है कि में धर्म के कार्यों की उन्नति, इन्द्रियों के दमन और दान का प्रचार देखूँ।

पंचम स्तम्भ-लेख—

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 26 वर्ष के उपरांत मैंने निम्नलिखित जीवों के मारे जाने का निषेध किया है, अर्थात् शुक, सारिका, अस्न, चक्रवाक, हंस नंदिमुख, गैरन, गेलात (चमगीदड़), अम्बल पिल्लिक, दद्धि, अनस्थिक मछली, वेदवेयक, गंगा-नदी के पुपुत, सकुंज, कफत, सयक, पभनसस, सिमल, संदक, ओकपिंड, पलसत, स्वेतकपोत, ग्राम-कपोत और सब चौपाये जो किसी काम में नहीं आते और खाये नहीं जातें बकरी, भेड़ी और शूकरी जब गाभिन हो व दूध देती हों व जब तक उनके बच्चे छ: महीने के न हों न मारी जाएँ। लोगों के खाने के लिए मुर्गी को खिलाकर मोटी न करनी चाहिए। जीते हुए जानवरों को नहीं जलाना चाहिए। जंगल चाहे असावधानी से अथवा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसमें रहने वाले जानवरों को मारने के लिए जलाये नहीं जाएँगे। तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा को, पूर्णिमा के चन्द्रमा का तिष्य नक्षत्र से और पुर्नवसु नक्षत्र से योग होने पर चन्द्रमा के चौदहवें और पन्द्रहवें दिन और पूर्णिमा के उपरांत वाले दिन और साधारणत: प्रत्येक उपोसथ दिन में किसी को मछली मारनी व बेचनी नहीं चाहिए। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को और तिष्य, पुर्नवसु और तीनों चतुर्मास्यों की पूर्णिमा के दूसरे दिन किसी को सांड, बकरा, भेड़, सूअर व किसी दूसरे बधिये किये जाने वाले जानवरों को बधिया नहीं करनी चाहिए।

तिष्य पुर्नवसु और चतुर्मास्यों और पूर्णिमाओं को और चातुर्मास्यों की पूर्णिमाओं के दूसरे दिन घोड़े व बैल को नहीं दागना चाहिए। अपने राज्याभिषेक के 26वें वर्ष में मैंने 26 बंदियों को छोड़ दिया है।

षष्ट स्तम्भ-लेख—

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—अपने राज्याभिषेक के 12 वर्ष पर मैंने अपनी प्रजा के लाभ और सुख के लिए (पहले-पहले) सूचनाएँ खुदवाईं। मैं यह समझकर प्रसन्न हूँ कि वे लोग इससे लाभ उठावेंगे और धर्म में अनेक प्रकार से उन्नति करेंगे और इस भाँति ये सूचनाएँ लोगों के लाभ सुख का कारण होंगी। मैंने वे उपाय किये हैं, जिनसे मेरी प्रजा के, जो मुझसे दूर और मेरे निकट रहती है, और मेरे सम्बन्धियों के भी सुख की उन्नति अवश्य होगी। इसी कारण में अपने सब कर्मचारियों पर देख-भाल रखता हूँ, सब पंथ के लोग मुझसे अनेक प्रकार के दान पाते हैं। परन्तु में उनके ध र्म-परिवर्तन को सबसे अधिक आवश्यक समझता हूँ। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के 26 वर्ष उपरान्त खुदवाई है।

सप्तम स्तम्भ-लेख—

देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—प्राचीन समय के राजा लोग यह चाहते थे कि मनुष्य धर्म में उन्नति करें। परन्तु उनकी इच्छानुसार मनुष्यों ने उन्नति नहीं की, अत: मैं किस प्रकार उन्हें सत्य-पथ पर ला सकता हूँ, तब देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—मैंने धर्म-सम्बन्धी उपदेशों को प्रकाशित करने और धार्मिक शिक्षा देने का निश्चय किया, जिसमें मनुष्य इनको सुन्दर सत्य-पथ को ग्रहण करें और उन्नति करें।

मैंने धार्मिक शिक्षाओं को प्रकाशित किया है और धर्म के विषय में अनेक उपदेश दिये हैं, जिससे धर्म की शीघ्र उन्नति हो मैंने लोगों के लिए बहुत-से कर्मचारी नियत किये हैं, उनमें से प्रत्येक प्रजा की ओर अपना धर्म करने में लगा हुआ है, जिसमें वे शिक्षा का प्रचार और भलाई की उन्नति करें। इसलिए मैंने हजारों मनुष्यों पर रज्जुक लोगों को नियत किया हैं और यह आज्ञा दी है कि वे धर्मयुतों को शिक्षा दें। देवताओं का प्रिय राजा पियदसी इस प्रकार बोला—केवल इसी बात के लिए मैंने लाटों पर ध र्म-सम्बन्धी लेख खुदवाये हैं, धर्म-महामात्रों को नियत किया है और दूर-दूर तक धर्मोपदेश का प्रचार किया है। बड़ी सड़कों पर मैंने नये अग्रोध के वृक्ष लगवाये हैं, जिससे वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें। मैंने आम के बगीचे लगवाये हैं, जिससे वे मनुष्यों और पशुओं को छाया दें। मैंने आम के बगीचे लगवाए हैं, आधे-आधे कोस पर कुएँ खुदवाए हैं और अनेक अच्छे कार्यों से लोगों के सुख का प्रबन्ध किया है, किन्तु में लोगों को धर्म के पथ पर चलाने के एकमात्र उद्देश्य से अपने सब कार्य करता हूँ। मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया है, जिसमें वे सब प्रकार से धर्म के कार्य में यत्न करें और सब पंथ के लोगों में, संन्यासियों और गृहस्थों में यत्न करें। पुजारियों, ब्राह्मणों, संन्यासियों, निर्ग्रंथों और भिन्न-भिन्न पंथ के लोगों के हित का ध्यान भी मेरे हृदय में हो रहा है और उन सब लोगों में मेरे कर्मचारी कार्य कर रहे हैं। महामात्र लोग अपने-अपने समाज में कार्य कर रहे हैं, ये तथा अन्य कर्मचारी मेरे हथियार हैं और वे मेरे तथा रानियों के दान को बाँटते हैं, मेरे महल में वे अपने-अपने कमरों में अनेक प्रकार से कार्य करते हैं। में यह भी जानता हूँ, वे यहां तथा प्रांतों में मेरे लड़कों को और विशेषत: राजकुमारों के दान को धर्म-कार्यों के साधन और धर्म को बढ़ाने के लिए बांटते हैं। इस प्रकार इस संसार में धर्म-कार्य अधिक होते हैं और धर्म के साधन दया, दान, सत्य, पवित्र, उपकार और भलाई की उन्नति होती है। भलाई के अनेक कार्य, जिन्हें में करता हूँ, उदाहरण की भाँति हैं। उनको देखकर सम्बन्धियों और गुरुओं की आज्ञा-पालन में, वृद्धों के लिए दया-भाव रखने में, ब्राह्मणों और श्रामनों का सत्कार करने में, गरीब दु:खियों, नौकरों और गुलामों का आदर करने में, लोगों ने उन्नति की है और करेंगें मनुष्यों में धर्म की उन्नति दो प्रकार से हो सकती है। स्थिर नियमों द्वारा और उन लोगों के धर्म के विचारों को उत्तेजित करने के द्वारा। इन दोनों मार्गों में कठोर नियमों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रखना ठीक नहीं है, केवल हृदय के उत्तेजित करने ही का सबसे अच्छा प्रभाव होता है। दृढ़ नियम मेरी आज्ञाएँ हैं, यथा—में विशेष पशुओं के वध का निषेध करूं और कोई धार्मिक नियम बनाऊँ, जैसा मैंने किया भी है। परन्तु केवल हृदय के विचारों के परिवर्तन से ही जीवों के ऊपर दया और प्राणियों के वध न करने से विचार में धर्म की सच्ची उन्नति होती है। इसी उद्देश्य से मैंने यह लेख प्रकाशित किया है कि वह मेरे पुत्रों और पौत्रों के समय तक स्थिर रहे, जिसमें वे मेरी शिक्षाओं के अनुसार चलें क्योंकि इस पथ पर चलने से मनुष्य यहां तथा परलोक, दोनों में सुख प्राप्त करता है। मैंने यह सूचना अपने राज्याभिषेक के 27वें वर्ष में खुदवाई है। जहाँ कहीं यह सूचना पत्थर की लाटों पर हैं, वहाँ वह बहुत समय तक स्थिर रहे।

यह सूचना बहुत समय तक स्थिर रही है, और उसके उपरांत के दो हजार वर्षों में मनुष्य-जाति ने दया, दान, सत्य, पवित्रता, उपकार और भलाई की उन्नति करने से बढ़कर इस संसार में कोई धर्म नहीं पाया है। अशोक का धर्म कुछ ऐसा निराला और अद्‌भुत था, जिसे हम पृथ्वी-भव में अलौकिक मान सकते हैं। उस समय तक भी बौद्ध-धर्म आर्य-धर्म का एक सम्प्रदाय मात्र था, जो धीरे-धीरे यज्ञों, उनकी हिंसाओं तथा उनके कर्त्ताओं की प्रबल-सत्ता का विरोध कर रहा था। अशोक ने इस साधारण सम्प्रदाय को जगमान्य बना दिया। आज चीन, जापान, लंका, श्याम, बर्मा, तिब्बत आदि देशों में पचासों करोड़ बौद्ध हैं, यह सब बुद्ध का प्रभाव है। यवनों से शासित यूरोप और अफ्रीका में भी अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रभाव बड़ी शांति से कराया, यद्यपि वे स्वयं जीवन के अन्त तक राज्य-कार्य करते रहे, परन्तु वे समय-समय पर साधुवेश धारण करते और भिक्षा भी मांग लिया करते थे। उनकी प्रशस्तियाँ बताती हैं कि वे धर्मोपदेशक भी थें अशोक अपने सम्राट् होने के 20 वर्ष बाद अपने गुरु उपगुप्त के साथ तीर्थाटन को निकले थें उनके साथ 20 हजार शिष्य थें इस यात्रा में जहाँ-जहाँ चक्रवर्ती ने मुकाम किया, वहाँ ध्वज-स्तम्भ और शिलालेखों की स्थापना की। इस यात्रा में यह महान् सम्राट् पाटलिपुत्र से उस प्रदेश से होते हुए जो अब मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिले में हैं, हिमालय के पास पहुँचे। फिर वह लुंबिनी ग्राम में पहुँचे। जहाँ बुद्ध ने जल पिया था, वहाँ भी अशोक ने एक धातु-स्तम्भ का निर्माण किया और वह गाँव उसी के लिए जागीर में दे दिया। फिर वे कपिलवस्तु आये, जो बस्ती जिले के पिपरावा गाँव के निकट ही कहीं था। यह बुद्ध के पिता की राजधानी थी। फिर वह सारनाथ, श्रावस्ती आये और स्तूप बनवाये और दस लाख निष्क दान में दियें फिर गया और कुसीनगर आयें इन सभी स्थलों पर अशोक ने स्तम्भ स्थापित किये।

अशोक ने अपने पुत्र और पुत्रियों को दूर देश लंका में धर्म-प्रचारार्थ भेजा और अन्य विद्वानों को देश-देशांतरों में। उन्होंने बड़े-बड़े दान कियें उन्होंने औषधालय, जलाशय स्थापित किये। पशु-चिकित्सालय खोला, जीव-हिंसा धीरे-धीरे उन्होंने बन्द की। अन्त में सर्वथा बन्द हो गई। अशोक के धर्म-सिद्धांतों और आदेशों के पालनार्थ राज्य का पोषण भी मिला, संभवत: इसी कारण उस काल में बौद्ध परम्परा अधिक विकसित हुई।

4.6 सारांश

अस्तु जैन एवं बौद्ध धर्म में अहिंसा का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है।

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. प्रश्न व्याकरण सूत्र में अहिंसा के कितने पर्याय दिये गये हैं—

   (अ) 62 (ब) 60 (स) 65 ( )

2. 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन किस ग्रंथ में है—

   (अ) सूत्रकृतांग (ब) आचारांग (स) प्रश्न व्याकरण सूत्र ( )

3. भाव एवं द्रव्य के आधार पर अहिंसा के कितने विकल्प बनते हैं—

   (अ) 2 (ब) 4 (स) 9 ( )

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. महात्मा बुद्ध के पिता कौन थे—

(अ) बिम्बसार (ब) शुद्धोधन (स) प्रसेनजीत ( )

5. अशोक के धर्मलेखों की संख्या कितनी है—

(अ) 13 (ब) 14 (स) 16 ( )

लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन दृष्टिकोण से हिंसा के स्वरूप एवं षट्कायों की हिंसा का वर्णन करें।
2. अहिंसा के अर्थ एवं प्रकार पर प्रकाश डालें।
3. अपराध संबंधी बौद्ध दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।
4. करुणा के दर्शन पर संक्षिप्त नोट लिखें।

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन अहिंसा को स्पष्ट करते हुए पर्यावरण संरक्षण में इसकी उपयोगिता का वर्णन करें।
2. अशोक की व्यावहारिक अहिंसा पर एक विस्तृत निबंध लिखो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–5 : महात्मा गाँधी एवं विनोबा का अहिंसा दर्शन एवं आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन

संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 महात्मा गाँधी का अहिंसा दर्शन

- 5.2.1 अहिंसा की अवधारणा
- 5.2.2 अहिंसा की विशेषता
- 5.2.3 अहिंसा का स्वरूप
- 5.2.4 विधायक अहिंसा
- 5.2.5 अहिंसा के विविध प्रकार
- 5.2.6 अहिंसा के संवर्द्धक तत्त्व
- 5.2.7 अहिंसा की कसौटी
- 5.2.8 अहिंसा की सफलता
- 5.2.9 अहिंसा की उपादेयता
- 5.2.10 व्यावहारिक जीवन और अहिंसा
- 5.2.11 आत्मशक्ति एवं अहिंसा
- 5.2.12 अहिंसा का मानसिक पक्ष
- 5.2.13 अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष
- 5.2.14 अहिंसा का व्यवस्थामूलक पक्ष
- 5.2.15 अहिंसा का प्रयोग
- 5.2.16 सत्याग्रह

5.3 विनोबा का अहिंसा–दर्शन

- 5.3.1 निषेधात्मक अहिंसा
- 5.3.2 भावात्मक अहिंसा
- 5.3.3 मनोवैज्ञानिक अहिंसा

5.4 आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा–दर्शन

- 5.4.1 अहिंसा का दार्शनिक आधार
- 5.4.2 हिंसा और एकांगी दृष्टिकोण
- 5.4.3 हिंसा के कारण
- 5.4.4 अहिंसक समाज संरचना
- 5.4.5 पर्यावरणीय चिन्तन
- 5.4.6 अहिंसा–प्रशिक्षण
- 5.4.7 प्रविधि

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.0 प्रस्तावना

मानव जाति अपने प्रारम्भिक काल से ही निरन्तर सभ्यता की ओर ही प्रयाण करती रही है। संभवत: यही कारण होगा कि मनुष्य जाति का निरन्तर विकसित, चेतन और उन्नतशील होने का। निश्चित रूप से मानव समुदाय में व्याप्त उद्दात मूल्यों ने उसकी इस विकास-यात्रा में अवश्य सहायता की होगी। इन उद्दात मूल्यों में अहिंसा का मूल्य शाश्वत व सर्वश्रेष्ठ है। इस उद्दात मूल्य की स्थापना तथा प्रतिष्ठा हेतु भारत में आदिकाल से ही धर्म-दार्शनिक परम्पराओं, शिखर पुरुषों आदि में सहयोग दिया है। गाँधी, विनोबा एवं आचार्य महाप्रज्ञ आधुनिक काल के ऐसे ही शिखर पुरुषों की श्रृंखला में आते हैं, जिन्होंने समान रूप से अहिंसा की उपयोगिता एवं श्रेष्ठता को हर मानव संबंधित क्षेत्र में सिद्ध किया।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा—

(अ) महात्मा गाँधी—अहिंसा दर्शन, अहिंसा की अवधारणा, विशेषता, स्वरूप, प्रकार, संवर्द्धक तत्त्व, कसौटी, उपादेयता।

(ब) व्यावहारिक जीवन और अहिंसा, आत्मशक्ति एवं अहिंसा, अहिंसा का मानसिक, व्यावहारिक, व्यवस्था-मूलक पक्ष, अहिंसा का प्रयोग, सत्याग्रह।

(स) विनोबा का अहिंसा दर्शन—भावात्मक अहिंसा, मनोवैज्ञानिक अहिंसा।

(द) आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन—अहिंसा का दार्शनिक आधार।

(य) हिंसा के कारण, अहिंसक समाज रचना, पर्यावरणीय चिन्तन।

(र) अहिंसा प्रशिक्षण-प्रविधि, हृदय-परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, अनेकांत, जीवनशैली परिवर्तन, व्यवस्था परिवर्तन।

5.2 महात्मा गाँधी का अहिंसा दर्शन

भारतीय संस्कृति में अहिंसा की अवधारणा प्राचीन काल से ही अनेक रूपों, संदर्भों और अनेकाविध समसामयिक प्रारूपों को लेकर विकसित होती रही है। अहिंसा वस्तुत: भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का प्राणतत्त्व है, जिसका प्रभाव हमारे दार्शनिक विश्लेषणों, धार्मिक विवेचनों, सामाजिक संघटनों और राजनैतिक क्रियाकलापों में सरलता से देखा जा सकता है। समय-समय पर अनेकानेक महापुरुष बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर आदि ने अहिंसा के विभिन्न स्वरूपों का प्रतिपादन किया। आधुनिक युग में गांधीजी अहिंसा के सफलतम प्रयोगकर्त्ताओं में माने जाते हैं। अहिंसा के विधेयात्मक पहलुओं को उन्होंने विभिन्न धर्मशास्त्रों व मतों से लिया, जिसमें जैन दर्शन का स्थान प्रमुखता से आता है। अहिंसा को सिद्धान्त के धरातल से उठाकर सामाजिक क्षेत्र में व्यवहार के धरातल पर प्रस्तुति उनकी मौलिकता मानी जा सकती है, जिसको कालान्तर में व्यापक विस्तृता मिली।

गांधीजी ने अहिंसा के तत्त्वमीमांसीय पक्ष की अपेक्षा नीतिगत पक्ष पर अधिक बल दिया। किन्तु उनका मानना था कि एक पक्ष को पूर्ण-रूपेण समझने के लिए दूसरे पक्ष का पूर्ण ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। अहिंसा के दार्शनिक स्वरूप को भली प्रकार जानने से ही उसका व्यावहारिक पक्ष सबल बन सकता है। वे शास्त्रीय दार्शनिक नहीं, अपितु व्यावहारिक जीवन के लिए एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले महान् विचारक हैं। गांधीजी की नीति-मीमांसा में अहिंसा का सर्वोच्च स्थान है। अहिंसा को वे परम धर्म मानते थे। उनका कहना था कि जब आप सत्य को ईश्वर के रूप में जानना चाहें तो उसका एकमात्र उपाय प्रेम तथा अहिंसा है। प्रेम के रूप में अहिंसा सभी गुणों की जननी है। अहिंसा का स्थूल अर्थ किसी भी जीव की हत्या न करना है। पशु रूप में मनुष्य हिंसक है, किन्तु आत्मा रूप में वह हिंसक नहीं रह सकता। अहिंसा का अर्थ है अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी आत्मा को सन्नद्ध करना। सच्चे अर्थों में केवल वही व्यक्ति अहिंसक हो सकता है जिसने भय को जीत लिया हो। गांधीजी का विश्वास है कि हिंसा के आधार पर कोई वस्तु निर्मित नहीं की जा सकती। अहिंसा कर्मठता का दर्शन है, निष्क्रियता का नहीं। अहिंसा न केवल हमारे विरोधियों को परास्त करती है अपितु हमें आन्तरिक रूप से अधिक महान् बनाकर अन्य मनुष्यों के साथ एकता के सूत्र में बांधती है। हृदय परिवर्तन द्वारा क्रांति का सिद्धान्त अहिंसा के मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गांधीजी के अहिंसक विचारों की मौलिकता इस बात पर है कि उन्होंने वैयक्तिक अहिंसा को सामाजिकता का जामा पहनाया। जन-जीवन से उसका तादात्म्य स्थापित किया। अहिंसा को व्यावहारोपयोगी बनाकर उन्होंने अहिंसा के पुरातन अर्थों की सीमाओं का विस्तार किया। गांधीजी ने सूक्ष्म अहिंसा की व्याख्या नहीं की अपितु हिंसा की तरह अहिंसा को संगठित किया और विश्व को यह दिखलाया कि अहिंसा से समाज परिष्कृत होता है, युद्ध को रोका जा सकता है और मानव-संस्कृति को सुरम्य बनाया जा सकता है। उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ प्रेम का सागर, वैरभाव का सर्वथा त्याग, दृढ़ता, वीरता एवं निच्छलता है। इस व्याख्या में अहिंसा की घनात्मकता दृष्टिगोचर होती है जिसमें केवल वैरभाव को ही समाप्त नहीं किया जाता अपितु हृदय में प्रेम को धारण किया जाता है।

गांधीजी ने यह दृष्टि दी है कि अहिंसा वैयक्तिक या निजी जीवन का गुण नहीं है, वरन् ऐसा गुण है जिसका सामाजिक या सामूहिक उपयोग हो। यहां उनके इस प्रसंग सम्बन्धी कुछ कथन उद्धत किये जाते हैं, जिससे यह विषय स्पष्ट हो जायेगा। उन्होंने कहा है—''मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है, वह पिंड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कंधे पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खत्म हो जाता है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है।'' ''जिस अहिंसा की हद एक व्यक्ति तक है, वह समाज के काम की नहीं। मनुष्य सामाजिक जीव है, इसलिये उसकी शक्तियां ऐसी होनी चाहिए कि समाज के सब लोग कोशिश से उसे अपने में बढ़ा सकें। दोस्तों के बीच जो सीखा या पढ़ाया जा सके, वह गुण विनय या नम्रता है। उसमें अहिंसा का थोड़ा अंश है, लेकिन वह अहिंसा के नाम से पहचाना जाने लायक नहीं है। अगर यह संसार वैर से भरी होती तो इसका कभी का अन्त हो गया होता। आखिर में संसार में प्रेम ही बढ़ता है। उससे संसार टिका है और टिकता है।'' मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिए है। यह आत्मा का गुण है, इसलिये यह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। अहिंसा सब के लिये है, सब जगहों के लिये है, सब समय के लिये है। अगर यह दरअसल आत्मा का गुण है तो हमारे लिये यह सहज हो जाना चाहिए। आज कहा जाता है कि सत्य व्यवहार में नहीं चलता, राजकारण में नहीं चलता। तो फिर वह कहां चलता है? अगर सत्य जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी व्यवहारों में नहीं चल सकता तो वह कौड़ी-कीमत की चीज नहीं है। जीवन में उसका उपयोग ही क्या रहा? ...सत्य और अहिंसा कोई आकाश-पुष्प नहीं है। ये हमारे प्रत्येक शब्द, व्यापार और कार्य में प्रकट होने चाहिये।''

गांधीजी ने सत्य की भांति ही अहिंसा-पालन पर भी बहुत बल दिया था। क्रोध, घृणा, ईष्या, विद्वेष तथा स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी प्राणी को अपने वचन अथवा कर्म द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचायें और कष्ट पहुंचाने का विचार न करें, यही अहिंसा है। अहिंसा के इस निषेधात्मक अर्थ के अतिरिक्त गांधीजी के अनुसार उसका स्वीकारात्मक अर्थ भी है जिसमें सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, दया, सहानुभूति आदि रखने की सलाह दी गई है। यथासम्भव प्राणियों की सेवा तथा सहायता करना अहिंसा का सकारात्मक पक्ष है। इस प्रकार गांधी ने अहिंसा-व्रत का पालन करने वाले मनुष्य हेतु घृणा, स्वार्थ, क्रोध, ईर्ष्या, विद्वेष, निर्दयता आदि दुर्भावनाओं से मुक्त रहना उचित माना है। अहिंसा के संदर्भ में उन्होंने कहा है—अहिंसा किसी को न मारना, इतना तो है ही, कुविचार हिंसा है, उतावली हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। गांधीजी ने अहिंसा को साधु-संतों के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण मनुष्यों के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने अहिंसा को कमजोर व्यक्तियों का अस्त्र या साधन न मानकर बलवानों का अस्त्र माना है। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक समस्याओं का स्थायी समाधान केवल शांतिपूर्ण अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता है, न कि हिंसात्मक उपायों द्वारा। गांधीजी का शांतिपूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह मूलतः इसी सिद्धान्त पर आधारित है। उन्होंने स्वीकार किया है कि हिंसात्मक उपायों द्वारा किसी भी प्रकार के अत्याचार का विरोध करने से उसमें वृद्धि ही होगी, क्योंकि हिंसा और अधिक हिंसा को उत्पन्न करती है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा का आचार मनुष्य का नैतिक अथवा आध्यात्मिक बल है, उसकी विवशता या दुर्बलता नहीं।

5.2.1 अहिंसा की अवधारणा

भारतीय वाङ्गमय में अहिंसा पर व्यापक चिन्तन हुआ है। गांधी वांगमय में भी अहिंसा की अवधारणा के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन किया गया है। गांधीजी की अहिंसा सत्य की खोज में प्राप्त होती है। गांधीजी ने कहा है:'निकला था

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सत्य की खोज में, हाथ लगी अहिंसा'। गांधी चिन्तन में अहिंसा एक विकासशील अवधारणा है, जिसका मतलब व्यापक और असीम प्रेम है। गांधीजी नि:संदेह हमारे समसामयिक युग में एक सबल निर्देशक हैं, जिन्होंने भारत ही नहीं वरन् विश्व को एक नवीन जीवन-दृष्टि प्रदान की है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि—

1. अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है।
2. वे अहिंसा और सत्य को परस्परावलम्बी और अभेद मूलक मानते हैं। उनके शब्दों में अहिंसा ही सतेश्वर का दर्शन करने का सीधा और छोटा-सा मार्ग है।

अहिंसा की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि अहिंसा का अर्थ पूर्ण निर्दोषता ही है। पूर्ण अहिंसा का अर्थ है—प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का अभाव। वस्तुत: प्राणी मात्र के प्रति दुर्भाव का सर्वथा त्याग ही अहिंसा है। यह दुर्भाव का अभाव यदि निषेधात्मक अहिंसा के स्वरूप का परिचायक है तो उसके विपरीत जीवों अर्थात् प्राणियों के प्रति समभाव का निर्वाह करना, अहिंसा के विधेयक स्वरूप का समर्थन करना भी है। उन्होंने कहा कि व्यक्ति यदि अपने में वह शक्ति पैदा कर ले कि वह शेर, भालू आदि हिंसक पशुओं से भी प्रेम कर सके और बिना हत्या भी काम बना सके तो उत्तम है। यहां उन्होंने वनों में साधना करने वाले साधुओं का उदाहरण दिया है। अहिंसा को मानसिक स्थिति मानते हुए उन्होंने निर्देश दिया है कि उस स्थिति को अच्छी तरह समझने की अपेक्षा है। दैनिक जीवन से व्यवहार की वस्तुओं का त्याग करना ही अहिंसा नहीं कही जा सकती। अहिंसा कभी भी मजबूरी अथवा कायरता की पोषक नहीं बन सकती। यह तो वीरों का धर्म है। उनके ही शब्दों में 'कायर व्यक्ति के द्वारा अहिंसा का पालन असंभव है'। वे अहिंसा को जाग्रत आत्मा का गुण विशेष मानते हैं, जिसकी सफल साधना बिना विचार, विवेक, वैराग्य, तपश्चर्या, समता एवं ज्ञान के नहीं हो सकती। यह अंधप्रेम भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अंधप्रेम में अज्ञानता होती है और अज्ञानता हिंसा का कारण है।

5.2.2 अहिंसा की विशेषता

1. अहिंसा सर्वदा समभाव से सबों के लिए लाभदायिका है, जिसमें स्वाभिमान और सम्मान की भावना की रक्षा होती है।

2. वह मात्र व्यक्ति के लिए ही उपयोगी नहीं है, वरन् समस्त विश्व के लिए उपयोगी है।

3. गाँधीजी अहिंसा को रूढ़िवाद व उपयोगितावाद से दूर समझते थे। रूढ़िवाद मनुष्य को विवेक प्रदान नहीं करता और उपयोगितावाद मनुष्य को लोलुप बना डालता है। अहिंसा एक ऐसी शुद्ध मानसिक स्थिति है, जिसकी प्राप्ति से मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति सद्भाव अथवा अनुकम्पा भाव रखता है। उन्होंने दया और अनुकम्पा को अहिंसा ही कहा है, लेकिन दोनों में अन्तर भी बताया है। उनकी दृष्टि में आत्मा में पैदा होने वाला विशिष्ट भाव अहिंसा है। लेकिन दया और अनुकम्पा व्यवहारजन्य भाव है। अनिवार्य हिंसा के सन्दर्भ में वे उसकी व्याख्या को क्षेत्रकाल व पात्र में परिवर्तन के आधार पर लगभग असंभव मानते थे। यज्ञ और अहिंसा के सन्दर्भ में उनकी मान्यता थी कि हिंसा किसी भी समय अथवा परिस्थिति अथवा प्रयोजन से की जाए, तो सर्वथा वह हिंसा ही होगी।

अहिंसा को भावात्मक रूप से प्रेम समझते हुए उनका मानना था कि प्रेम के माध्यम से ही व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ को छोड़ता जाता है। इस ईश्वरीय गुण के बिना व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों में ही लीन रहता है। जो शक्ति प्रेम में है, वह किसी और में नहीं। इसलिये जो काम बड़े से बड़े तर्क और बल प्रयोग से नहीं हो सकते, वह सहज ही प्रेम के द्वारा सिद्ध हो सकता है। अपने मानव-बन्धुओं के प्रति हमारे कर्त्तव्य के मूल में भी प्रेम ही है। प्रेम-भावना के कारण हमारा कर्त्तव्य पालन भी सुखद हो जाता है। प्रेम का हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश है।

गांधीजी के अनुसार अहिंसा की पांच विशेषताएं निम्न हैं—

1. अहिंसा में मानव-सुलभ सम्पूर्ण आत्मशुद्धि अन्तर्निहित होती है।
2. अहिंसा की शक्ति अहिंसक व्यक्ति की हिंसा करने की योग्यता, न कि इच्छा के अनुपात पर निर्भर करती है।
3. अहिंसा बिना किसी अपवाद के श्रेष्ठ है, अर्थात् अहिंसक व्यक्ति की शक्ति सम्पन्नता उसके हिंसक व्यवहार की तुलना में अधिक होती है।

Jain (Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. अहिंसा में पराजय का प्रश्न कभी उत्पन्न नहीं होता। हिंसा की परिणति निश्चित पराजय है।

5. अहिंसा में अन्ततः विजय सुनिश्चित है। वास्तव में जहां पराजय का कोई स्थान ही न हो, वहां विजय का कोई अर्थ ही नहीं होता।

अपने सच्चे स्वरूप में अहिंसा दिव्य भाव, विचार, क्रिया और व्यवस्था का अखण्ड रूप है। शुद्ध भाव के बिना शुद्ध विचार उत्पन्न नहीं हो सकता, शुद्ध विचार के बिना उत्तम व्यवहार नहीं हो सकता और उत्तम आचरण के बिना उत्तम समाज व्यवस्था एक दिवास्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

5.2.3 अहिंसा का स्वरूप

गांधी दर्शन में अहिंसा की अवधारणा का अभिप्राय निषेधात्मक एवं विधायक अहिंसा से है। निषेधात्मक अहिंसा का आशय हिंसा का त्याग है। दूसरे शब्दों में हिंसा की अनुपस्थिति ही अहिंसा है। गांधी चिन्तन में निषेधात्मक हिंसा को दो भागों में विभक्त किया गया है, जो निम्नांकित हैं—

1. बाहरी हिंसा या स्थूल हिंसा—इसके अन्तर्गत किसी की हत्या करना या मारने का विचार एवं आचार आता है।

2. आन्तरिक हिंसा—आन्तरिक हिंसा को मानसिक हिंसा या सूक्ष्म हिंसा भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार असत्य जैसे विकार आते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि गांधी चिन्तन के अन्तर्गत निषेधात्मक अहिंसा का अभिप्राय बाहरी अहिंसा एवं आन्तरिक अहिंसा से है। बाहरी अहिंसा जिसे स्थूल अहिंसा भी कहा जाता है, का अभिप्राय किसी की हत्या नहीं करना। इसी तरह आन्तरिक अहिंसा जिसे मानसिक अहिंसा या सूक्ष्म अहिंसा भी कहा जाता है, का मतलब अक्रोध, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्वाद, असंग, अपीड़न आदि से है।

5.2.4 विधायक अहिंसा

गांधी दर्शन में सूक्ष्म एवं स्थूल अहिंसा के साथ ही विधायक अहिंसा का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। विधायक अहिंसा का मतलब प्रेम का विस्तारीकरण, मैत्रीभाव की जागृति, दया भाव का उदय एवं आचरण करने से है। इसके अन्तर्गत दो तत्त्व आते हैं—(अ) बाहरी हिंसा का त्याग, (ब) आन्तरिक हिंसा का त्याग। गांधीजी की विधायक अहिंसा की चर्चा करते हुए प्रो. एस.एन. तिवारी अपनी पुस्तक गांधी दर्शन में लिखते हैं—'अहिंसा का अर्थ करुणा, मानवता, पौरुष, भद्रता, सरलता, शांति, हृदय की विशालता, दया, मैत्री, सेवा, त्याग, आत्मपीड़न, साहस, आस्था, अपरोक्ष क्रियावादी विचार, विवेक, स्पष्ट दृष्टि, पवित्रता, विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्यवादिता और ईश्वरार्पण है।'

इसके अन्तर्गत दो तत्त्व आते हैं—

1. सदगुणों का मनसा, वाचा, कर्मणा आचरण, 2. सर्वव्यापक एवं असीम प्रेम की जागृति

5.2.5 अहिंसा के विविध प्रकार

गांधी चिन्तन में अहिंसा को तीन विभागों में विभाजित किया गया है, जो निम्नांकित हैं—1. निषेधात्मक अहिंसा, 2. भावात्मक अहिंसा, 3. मनोवैज्ञानिक अहिंसा।

1. निषेधात्मक अहिंसा—अहिंसा का सहज अर्थ करते हुए वे कहते हैं ''हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है।'' हिंसा से निवृत्ति का अर्थ बतलाते हुए कहा है:—आत्म रक्षार्थ और आक्रामक—दोनों प्रकार की हिंसा से निवृत्ति है। मनसा, वाचा, कर्मणा, हिंसा का निषेध इसके अन्तर्गत आता है।

2. भावात्मक अहिंसा—अहिंसा का प्रयोग मात्र व्यक्तिगत मोक्ष के लिए ही नहीं वरन् सामूहिक मोक्ष तक ले जाना गांधीजी की मौलिकता है। उनके अनुसार अहिंसा, सत्यप्रेम, करुणा के अखण्ड रूप हैं। अहिंसा का स्वरूप धारण किए बिना अहिंसा पुष्ट नहीं हो सकती है। निर्दोष करुणा में सदैव सत्य का समावेश होता है। सत्याधारित करुणा ही अहिंसा का रूप धारण कर सकती है। करुणा स्वस्फूर्त होती है। गांधी की अहिंसा के पीछे स्वस्फूर्ति गांधी की करुणा ही है। भावात्मक अहिंसा सृजनात्मक होती है। अहिंसा के पीछे सत्य, प्रेम और करुणा का आधार है। अतः अहिंसा सृजनात्मक होगी न कि संहारक। यदि वह संहारक है तो द्वेष एवं विषमभाव की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(3) मनोवैज्ञानिक अहिंसा—गांधी चिन्तन में अहिंसा मात्र बाहर की क्रिया नहीं है, वरन् वह तो हृदय की निष्ठा है। अहिंसा स्थितप्रज्ञता की निशानी है। विचारों का संतुलन बनाये रखने एवं बुद्धि की समता को हिलने नहीं देना अहिंसा है। प्रज्ञा की स्थिरता ही अहिंसा का सार है। गांधी दर्शन में अहिंसा का मतलब केवल हत्या नहीं करना, षड विकारों से दूर रहना ही नहीं है वरन् करुणा, दया, मैत्री, सेवा, त्याग, भद्रता, सरलता, विनम्रता, सहिष्णुता, प्रेम आदि वृत्ति की जागृति है। अहिंसा सत्य, प्रेम, करुणा का अखण्ड रूप है। अहिंसा प्रेम है जिसकी अभिव्यक्ति सेवा में होती है।

5.2.6 अहिंसा के संवर्द्धक तत्त्व

गांधी दर्शन में अहिंसा को संवर्द्धन करने वाले मुख्य तत्त्व निम्न हैं—

1. प्रतिरोधी प्रेम वृत्ति की जागृति
2. आत्मवत् सर्वभूतेषु भाव का प्रभाव
3. सर्वभूत हितेरत: की प्रवृत्ति की जागृति
4. प्रतिकार के पीछे दया भाव का होना
5. स्थितप्रज्ञता
6. अभयता
7. आत्मशोधन एवं आत्मशुद्धि
8. मुक्त सेवा
9. विश्वव्यापी प्रेम

5.2.7 अहिंसा की कसौटी

गांधी दर्शन में अहिंसा की कसौटी के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—

1. जीवमात्र के प्रति आत्मीयता का भाव
2. विरोधी के प्रति दया भाव
3. व्यवहार में राग-द्वेष का अभाव
4. विपरीत परिस्थिति में भी समत्व बुद्धि की स्थिरता
5. सबसे जरूरतमंद एवं दु:खी की सर्वप्रथम सेवा
6. प्रतिपक्षी के प्रति पक्षपात वृत्ति का उदय
7. स्वयं किसी से न तो डरना, न डराना
8. प्रज्ञा की स्थिरता
9. पूर्वाग्रह एवं राग आदि से मुक्ति

5.2.8 अहिंसा की सफलता

अहिंसा की सफलता के लिए गांधीजी ने निम्न आधार प्रस्तुत किये हैं—

1. अहिंसा मानव प्रजाति का नियम है और हर दृष्टि से प्राथमिक शक्ति से श्रेष्ठ है।
2. अहिंसा से आत्म-सम्मान एवं गौरव की रक्षा होती है।
3. प्रेमी-रूपी ईश्वर में विश्वास नहीं रखने वालों को अहिंसा की उपलब्धियां प्राप्त नहीं होती।
4. व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अहिंसा के प्रयोग में सम्मान के अलावा अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहना चाहिए।
5. ईश्वर तथा प्रेम में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति चाहे वह बालक, युवा, स्त्री अथवा वृद्ध ही क्यों न हो, अहिंसा रूपी शक्ति से युक्त होता है।
6. यह मानना सर्वथा भ्रामक है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए लाभकारी है, मानव समुदाय के लिए नहीं ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.2.9 अहिंसा की उपादेयता

विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. टायनबी ने घोषणा की है कि यदि विश्व को सर्वनाश से बचाना है तो अहिंसा की शरण में आना ही होगा। आज भले ही ऊपर-ऊपर हिंसा दिखलाई पड़ रही है, लेकिन असल में वह कमजोर होती जा रही है। विश्व की जितनी हिंसक पशु-पक्षियों की प्रजातियां थीं, जो आपस में लड़ा करती थी उनकी छः सौ से अधिक प्रजातियां समाप्त हो चुकी हैं। ठीक इसके विपरीत वैसी लगभग सात सौ पशु-पक्षियों की प्रजातियां बढ़ी हैं जो आपस में प्रेम और सद्भाव से रहती हैं। अहिंसा का मार्ग व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए वांछनीय है। मात्र आवश्यकता इस बात की है कि अहिंसा के पथिक को अपने ऊपर भरोसा होना चाहिए कि वह वातावरण की बुराइयों से अपने को मुक्त रख सकता है। अहिंसा को अपनाने से विश्व सर्वनाश से बच सकता है। इसके लिए बस अहिंसक जीवनशैली में अहिंसक पद्धतियों को विकसित करने की आवश्यकता है। वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में अहिंसा मात्र परम धर्म ही नहीं निकटधर्म भी है। अतः समय रहते यदि अहिंसा को शीघ्र ही नहीं अपनाया गया तो वह भविष्य के लिए खतरनाक होगा एवं आने वाली पीढ़ी क्षमा नहीं करेगी। अहिंसा का पालन करने से मित्रों की संख्या में वृद्धि होगी, प्रभु की महानता की अनुभूति होगी, अन्नत पीड़ाओं में भी शांति की प्राप्ति होगी। नाशवान एवं शाश्वत का ज्ञान होगा। अहिंसा का विसर्जन होगा, विनम्रता के संस्कार का सृजन होगा। पदार्थ से राग की समाप्ति होगी, प्रभू के प्रति अनुराग का जागरण होगा, अतः आत्मवत् सर्वभूतेषुः भाव की प्राप्ति होगी।

5.2.10 व्यवहारिक जीवन और अहिंसा

अहिंसा गांधी दर्शन की मौलिक धारणा है। गांधीजी ने अहिंसा की अवधारणा को विविध रूपों में प्रकट किया है। इसमें व्यावहारिक जीवन और अहिंसा के बारे में गांधीजी के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। गांधीजी के विचारानुसार वस्तुतः अहिंसा एक विकासशील धारणा है अतः नये-नये युगों में इसके अर्थ बदल सकते हैं और इसके क्षेत्र का विकास हो सकता है। अहिंसा के क्रमिक विकास की कल्पना का आधार आदर्श और यथार्थ दोनों हैं। गांधीजी स्वयं अपने को एक व्यावहारिक आदर्शवादी मानते थे इसीलिये अहिंसा की कल्पना काफी लचीली थी। वे अहिंसा के अतिवाद से अनावश्यक रूप से ग्रसति नहीं थे। वे फसल को नष्ट करने वाले कीड़ों आदि को बढने देकर बहुमूल्य मानव जीवन को कठिन एवं दुर्वह नहीं बनाना चाहते थे किन्तु दूसरी ओर अनावश्यक रूप से प्राणी को क्या, वनस्पति जीवन को भी कष्ट नहीं देना चाहते थे। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जीव-जीव के स्तरों में बुद्धिपूर्वक भेद करते हुए अपनी दृष्टि हमेशा अहिंसा के उत्तरोत्तर विकास की ओर रखनी चाहिए। इसमें आदर्श और व्यवहार तथा भावना और बुद्धि का आदर्श समन्वय है। गांधीजी के विचारानुसार अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन शरीरधारी मानव से असंभव है। पूर्ण अहिंसा युकिलड के बिन्दु और सरल रेखा के समान हैं जो पूर्णतः सैद्धान्तिक हैं। हमें अपनी शरीर की रक्षा के लिए जीवन और प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों में बाहरी हिंसा करनी पड़ती है। अतः व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के पालन में ''पूर्ण अहिंसा'' का अर्थ 'प्रगतिशील अहिंसा' है। प्रगतिशील अहिंसा न तो जैनों की अहिंसा की भांति अगम्य है और न मनु की अहिंसा की भांति उदार। यह आदर्शवाद और वस्तुवाद का समन्वय है। वस्तुतः यह एक गतिशील और जीवन्त धारणा है जिसकी अनुभूति आंशिक रूप से ही की जा सकती है, धारणा भले ही अपने आप में पूर्ण हो। शायद इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि इस पार्थिव शरीर से पूर्ण सत्य और अहिंसा का पालन करना संभव नहीं। इस प्रण का पालन कर व्यक्ति, संस्था, समाज और राष्ट्र सभी लाभान्वित हो सकते हैं। अहिंसा के पालन से धीरे-धीरे मित्रों की संख्या बढ़ने लगती हैं, ईश्वर की महानता का अनुभव होने लगता है। अधिक शाश्वत तथा अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान होने लगता है।

5.2.11 आत्मशक्ति एवं अहिंसा

गांधीजी ने हर क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का प्रयोग किया। युद्ध के क्षेत्र में भी गांधीजी का कहना था कि युद्ध हिंसा का प्रतीक है। इसलिए युद्ध का विकल्प अहिंसा होना चाहिए। गांधीजी के सिद्धान्तों में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। युद्ध के निवारण के रूप में अहिंसा का प्रयोग आत्मशक्ति के रूप में किस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण विकल्प बन सकता है। इसको समझने से पहले आत्मशक्ति की अवधारणा को समझना एवं स्पष्ट करना आवश्यक है। इसकी अवधारणा को समझने के लिए हमें इसके विविध रूपों को देखना होगा, साथ ही साथ उन अर्थों के आधार पर इसका स्वरूप निर्धारित करना होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मशक्ति एक नैतिक मूल्य है। जिस मूल्य के सहारे जीने वाला कोई व्यक्ति पराजित नहीं होता। आत्मशक्ति एक सामाजिक मूल्य भी है। जिसमें व्यक्ति, परिवार एवं राष्ट्र में कहीं भी संघर्ष पैदा हो, इसका निदान आत्म शक्ति के सहारे हो सकता है। आत्मशक्ति एक व्यावहारिक सिद्धान्त भी है। जब वह व्यवहार में उतरता है तब वह सत्याग्रह का रूप धारण कर लेता है। तब दो प्रकार की क्रियाएं अन्याय का, दुश्मन का प्रतिपक्षी का निष्क्रिय प्रतिरोध और बुराई का असहयोग, असत्य का असहयोग, जिसके सहारे कोई भी राष्ट्र पराजित नहीं हो सकता। क्योंकि इसके सहारे ऐसी नैतिक शक्ति जगती है कि बिना जनता के सहयोग से कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर शासन नहीं कर सकता। आत्मशक्ति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी संघर्ष के निदान का कारण बनती है। इसलिए यह संख्यात्मक रूप भी धारण कर लेती है। आत्मशक्ति प्रेम, करुणा, सत्य, नैतिकता, बलिदान, चरित्र और आत्मपीड़न की शक्ति है जो अजेय एवं अविनाशी है। इस शक्ति के सामने दूसरी कोई शक्ति जीत नहीं सकती। प्रेम और करुणा की शक्ति असीम और अनन्त होती है। जिसके सामने हिंसा की शक्ति, असत्य की शक्ति झुक जाती है। आत्मशक्ति एक निष्क्रिय प्रतिरोध की प्रक्रिया के रूप में है। इस प्रकार यह ऐसी प्रणाली का बोध है। जिसके सहारे हम कष्ट को झेलकर अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं। अधिकारों को प्राप्त कर सकते हैं। जो चीज हो रही है वह ठीक नहीं है। इस प्रकार सत्याग्रही आत्मशक्ति के सहारे अन्तरात्मा का प्रयोग करता है। आत्मशक्ति प्रेमशक्ति के रूप में भी है क्योंकि जब सत्याग्रही दूसरों के हित के लिए प्रतिरोध का प्रयोग करता है, तब दूसरों के लिए अपने पर दु:ख ले लेता है। उसका अपने जीवन में दु:ख लेना दूसरों को न्याय दिलवाना है। सच्चा प्रेम वही होता है जो दूसरों के लिए स्वयं कष्टों का सामना करे। इसमें प्रेम का प्रकटीकरण होता है। इस दृष्टि से यह प्रेम-शक्ति के रूप में भी है। सत्याग्रही आत्मशक्ति को जगाता है। अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है। ईश्वर ही सत्य और सत्य ही ईश्वर है। सत्य के लिए व्यक्ति अपने स्वार्थ का भी बलिदान करता है? इस दृष्ट से वह सत्य-शक्ति का रूप भी है। प्रेम शक्ति, सत्य जीवन और अन्तरात्मा की शक्ति के साथ-साथ यह नैतिक शक्ति भी है। समाज में शांति स्थापित करने के लिए, आत्मशक्ति जगाने के लिए नैतिकता का होना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य, निर्भयता, स्वदेशी भावना के प्रति निष्ठा, आत्म-समर्पण, कर्त्तव्यनिष्ठा, सहिष्णुता आदि नैतिक मूल्य हैं, जिनका जीवन में होना बहुत आवश्यक है। इसके बिना प्रेम और सत्य की शक्ति पैदा नहीं हो सकती। नैतिक शक्ति के साथ-साथ आत्मिक शक्ति एक भावनात्मक मूल्य भी है। जिसके सहारे व्यक्ति दूसरों को सुख पहुंचाता है। दूसरे व्यक्तियों के कल्याण के लिए व्यक्ति आत्म-शक्ति का सहारा भी लेता है। इस प्रकार आत्मशक्ति निषेधात्मक भावना नहीं, निवारण की पद्धति ही नहीं बल्कि एक भावनात्मक मूल्य भी है। प्रेम और करुणा शक्ति के साथ-साथ यह अहिंसक शक्ति भी है क्योंकि इसमें हिंसा का सहारा नहीं है। किसी व्यक्ति के कल्याण के लिए, शुभ अहसास के लिए, प्रेम प्रकटीकरण के लिए अहिंसा का होना बहुत आवश्यक है। आत्मा का प्रकटीकरण अहिंसा के साधन से ही संभव है।

आत्मिक शक्ति पाशविक शक्ति से भिन्न है। पाशविक शक्ति के विकास के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षण दिया जाता है। आत्मिक शक्ति के लिए प्रशिक्षण की कोई अपेक्षा नहीं है। पाशविक शक्ति के लिए अस्त्र-शस्त्र और सशक्त शरीर की आवश्यकता रहती है। आत्मिक शक्ति के लिए शरीर का बलवान होना महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु संकल्प शक्ति और मनोबल मजबूत होना चाहिए। आत्मिक शक्ति का अन्तिम परिणाम विनय ही है। पाशविक शक्ति में हिंसक साधनों के द्वारा युद्ध किया जाता है। हिंसक साधनों से समाज में अहिंसा एवं शांति की स्थापना नहीं हो सकती। आत्मशक्ति में अहिंसक साधनों से युद्ध को शान्त कर अहिंसा एवं शांति की स्थापना समाज में की जाती है।

इस प्रकार को विविध अर्थों में देखने से यह ज्ञात होता है कि यह व्यक्तिगत मूल्य, सामाजिक मूल्य, व्यावहारिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य के रूप में समाहित है। साथ ही साथ यह प्रेम शक्ति, सत्य शक्ति, अर्न्तात्मा की शक्ति, अहिंसक शक्ति, करुणा की शक्ति, संकल्प की शक्ति के रूप में भी अर्न्तगर्भित है।

आत्मशक्ति एक ऐसी अजेय, अविनाशी शक्ति है जो पाशविक शक्ति का विकल्प बन सकती है। आत्मशक्ति जीवन का शाश्वत नियम है जिसके आधार पर व्यक्तिगत, सामाजिक जीवन टिका हुआ है। पाशविक शक्ति युद्ध पैदा करती है। आत्मिक शक्ति एक ऐसी शक्ति है जिसके सहारे दैनिक झगड़ों का, सामाजिक संघर्षों एवं राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के युद्धों का निवारण होता है। इस शक्ति में सत्य छिपा हुआ है। आत्मशक्ति का जब प्रयोग होता है तब कष्ट और दुष्परिणाम आत्मशक्ति के प्रयोगकर्त्ता को ही भुगतना पड़ता है, अन्य को नहीं। आत्मशक्ति में स्वयं को पीड़ा होती है, दूसरों को नहीं। पाशविक शक्ति के प्रयोग होने के कारण निर्दोष को भी कष्ट उठाना पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मशक्ति वाले व्यक्ति कर्त्तव्य पर ध्यान देते हैं, अधिकारों पर नहीं क्योंकि कर्त्तव्यनिष्ठा के आधार पर ही व्यक्ति का जीवन विकसित होता है, समाज प्रगतिशील बनता है। पाशविक शक्ति में पद, अधिकारों आदि पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है। युद्ध की आकांक्षा और अधिकारों की प्राप्ति के कारण युद्ध होता है। युद्ध के निवारण के लिए एवं अहिंसा एवं शांति स्थापना के लिए आत्मशक्ति ही एकमात्र एवं महत्त्वपूर्ण विकल्प है क्योंकि आत्मशक्ति में अहिंसक साधनों से वास्तविक विजय को प्राप्त किया जाता है। पाशविक शक्ति में हिंसक साधनों का प्रयोग किया जाता है। हिंसा से तो प्रतिपक्षी हिंसा पैदा होती है। इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा का दुष्चक्र चलता रहता है। आत्मिक शक्ति में अहिंसक साधनों से प्रतिपक्षी को जीता जाता है। क्रोध को प्रेम से वैर को मैत्री से जीतने की बात आत्मशक्ति से प्राप्त की जा सकती है। पाशविक शक्ति में हिंसा को हिंसा से जीतने की बात है, जो कभी संभव नहीं है। इससे तो हिंसा और अशांति को बढ़ावा मिलता है। गांधीजी के शब्दों में आत्मिक शक्ति ही पाश्विक शक्ति का एकमात्र महत्त्वपूर्ण विकल्प बन सकता है।

इस प्रकार आत्मशक्ति के मूल में अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता और परमार्थ की भावना निहित है जिसके आधार पर व्यक्ति समस्याओं से संघर्षों से, मुक्त हो सकता है। आत्मशक्ति के आधार पर ही समाज में अहिंसा एवं शांति की स्थापना हो सकती है। परस्पर में सहयोग की भावना, सामंजस्य की एवं समन्वय की भावना तथा प्रेम एवं मैत्री की भावना से ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की युद्ध जैसी भयानक विभीषका को शांत किया जा सकता है। दूसरी ओर पाशविक शक्ति के मूल में हिंसा, स्वार्थ, आकांक्षा एवं क्रूरता की भावना निहित है जिसके आधार पर व्यक्तिगत जीवन संघर्षों से घिर जाता है। समाज में राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक युद्ध की मैदान विभीषिकाएँ मुँह बायें खड़ी रहती है। इस दृष्टि से आत्मशक्ति एक ऐसी शक्ति जिसमें व्यक्ति अपनी स्थिति को ठीक कर, विवेक का सहारा लेकर समस्या का समाधान कर सकता है। अहिंसा एवं आत्म शक्ति के समर्थक गांधीजी ने आत्मशक्ति के सहारे ही तो भारत को अंग्रेजों की जंजीरों में से मुक्त कर स्वतंत्रता हासिल करवाई थी।

आज के आणविक एवं 'ऐटम बम' के युग में प्रत्येक राष्ट्र युद्ध के लिए तैयार बैठे हैं, जहां मानव-शक्ति एवं धन का अपव्यय हो रहा है। अत्याचार एवं भय की स्थिति विकराल बनी है। पूरी मानव जाति विनाश के कगार पर खड़ी है। उस स्थिति में सबको मिलकर आत्मशक्ति का परिचय देकर पुरुषार्थ भावना को जगाकर स्वार्थ को दूर हटाकर अजेय एवं अनन्त शक्ति आत्मिक शक्ति का सहारा लेकर अहिंसा एवं शांति की स्थापना करनी होगी।

5.2.12 अहिंसा का मानसिक पक्ष

अहिंसा कोई ईश्वरीय वस्तु नहीं है। यह मानव व्यक्तित्व का ही गुण है। मानव व्यक्तित्व में आत्मिक और शारीरिक दो पक्ष होते हैं। अहिंसा का सीधा संबंध आत्मिक पक्ष से है, जो अन्ततः परम सत्य से जुड़ा रहता है। वस्तुतः आत्मिक गुणों का प्रकटीकरण ही अहिंसा के रूप में होता है। अहिंसा देवी प्रवृत्तियों के रूप में मनुष्य को प्राप्त होती है। अहिंसा अक्रोध, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्वाद, अपीड़न और अहत्या इत्यादि प्रवृत्तियों का मूल है। इसी प्रकार भावात्मक दृष्टि से अहिंसा, करुणा, मानवता, पौरुष, मृदुता, सरलता, शांति, हृदय की विशालता, दया, मैत्री, सेवा, त्याग, आत्मपीड़न, साहस, आस्था, अपरोक्ष, क्रियावादी विचार, विवेक, स्पष्ट दृष्टि, पवित्रता, विनम्रता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्यवादिता आदि भावना के पर्याय हैं। ये सभी अहिंसा के मानसिक पक्ष हैं।

विभिन्न मतों व दर्शनों में भी अहिंसा के आन्तरिक और मानसिक पक्ष को महत्व दिया गया है। जैनदर्शन में भी अहिंसा के आन्तरिक और मानिसक पक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। अमित गति ने अपने पुरुषार्थ सिद्धिमुपाय में स्पष्ट रूप से कहा है—प्राणघात हिंसा नहीं बल्कि रागादि का नाम ही हिंसा है। परघात में प्रवृत्ति नहीं होने पर भी मन में हिंसा का भाव रखना एक प्रकार की हिंसा ही है।

आचार्य विनोबा के अनुसार विचारों का सन्तुलन कायम रखने और बुद्धि की समता न डिगने देने का नाम ही अहिंसा है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में अहिंसा को कैवल्य की सिद्धि का ही साधन माना है। इनकी दृष्टि में चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। उनके अनुसार अहिंसा मानसिक और वैयक्तिक जीवन को उद्धात बनाने का साधन है।

यह माना जा सकता है कि गांधीजी की अहिंसा जैनदर्शन के समीप रही है और उन्होंने जैनदर्शन और पतंजलि की अहिंसा को मानसिक पक्ष को स्वीकार करते हुए भी इसका व्यावहारिक और संस्थात्मक जीवन में प्रयोग के आधार पर नये-नये अनुसंधान किये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.2.13 अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष

अहिंसा का भाव या विचार मन में उत्पन्न होता है, परन्तु इसका प्रकटीकरण मानव के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों में होता है। विचार और व्यवहार की अपनी-अपनी विशेषताओं होती हैं। विचार अमूर्त्त किन्तु व्यवहार मूर्त्त होता है।

गांधीजी जीवोन्मुख विकासशील अहिंसा में विश्वास करते थे। इस पर नये-नये अनुसंधान करते रहे तथा अधिक से अधिक अहिंसक जीवन की ओर आगे बढ़ने का निष्ठापूर्वक प्रयास करते रहे। उन्होंने अपने आप को व्यावहारिक आदर्शवादी भी कहा था। यद्यपि विचार और व्यवहार एक दूसरे से भिन्न है। परन्तु अहिंसक विचार के बिना अहिंसक व्यवहार असंभव है। पूर्ण और आदर्श अहिंसा में मन, वचन और कर्म तीनों की एकरूपता रहती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि अहिंसक विचार रहने पर अहिंसक व्यवहार होगा ही। दुरुहतापूर्ण परिस्थितियां भी अहिंसक व्यवहार में बाधा डालती हैं। इसलिए मानसिक रूप से अहिंसा का भाव रहते हुए भी थोड़ी बहुत हिंसा को स्वेच्छा से अपनाना पड़ता है। यदि अहिंसा के नाम पर मानव अस्तित्व ही असंभव हो जाए तो वह अहिंसा किसी काम की नहीं। इसलिए गांधीजी ने स्पष्ट रूप से पूर्ण अहिंसा को युकिलिड की ज्योमेट्री की भांति असंभव कहा है। जब तक मनुष्य अपने शरीर से जुड़ा है, तब तक थोड़ी मात्रा में हिंसा होगी ही। उनके अनुसार मानव अपनी गरिमा व मर्यादा की सुरक्षा के लिए पूर्णतः स्वतंत्र है। अहिंसक व्यवहार मानव की विभिन्न परिस्थितियां, अस्तित्त्वमूलक प्रश्नों तथा गरिमा के विचार से प्रभावित होता है।

अहिंसक व्यवहार व्यक्ति, समूह तथा संस्था किसी के द्वारा भी किया जा सकता है। सुविधा की दृष्टि से इसे तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. अहिंसक भावात्मक मूल्यों के अनुरूप आचरण
2. प्रतिकारात्मक व्यवहार
3. रचनात्मक कार्य

अहिंसक भावात्मक मूल्यों के अनुरूप आचरण के अन्तर्गत सहयोग, करुणा, दान, सेवा आदि लिया जा सकता है।

प्रतिकारात्मक कार्य के अन्तर्गत अहिंसक विरोध या संघर्ष का कार्य आता है, जैसे सविनय अवज्ञा, असहयोग, आत्म पीड़न, हड़ताल, सत्याग्रह इत्यादि। नैतिक शांतिमय दबाव उसके उदाहरण हैं।

रचनात्मक कार्य के अन्तर्गत व्यक्ति या समूह का हृदय जीतकर उनका समर्थन प्राप्त किया जाता है, जिससे भविष्य में अहिंसक समाज-व्यवस्था के निर्माण में सहायता मिलती है।

5.2.14 अहिंसा का व्यवस्थामूलक पक्ष

गांधीजी की अहिंसा कोई आपातकालीन व्यवहार या दर्शन नहीं है। यह जीवन और चिन्तन की सामान्य प्रक्रिया है जिससे अधिक से अधिक समता, न्याय और अशोषण पर आधारित समाज का निर्माण होता है। इसलिए गांधी की अहिंसा-विचार, भावक्रिया, प्रक्रिया और शक्ति के अतिरिक्त एक व्यवस्था विशेष का सूचक है। यह उस व्यवस्था का नाम है जिसे अहिंसक समाज की संज्ञा दी जा सकती है। उनकी दृष्टि में अहिंसा समाज की व्यवस्था विशेष का नाम है जिसमें अन्याय, शोषण, विषमता, कलह और परतंत्रता का अभाव रहता है। यह एक ऐसे समाज की कल्पना है, जिसमें सभी प्रेम से रहते हैं तथा एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। अहिंसक व्यवस्था में सिद्धान्त विहीन राजनीति, बिना श्रम के धन, विवेक रहित भोग, चरित्रहीन शिक्षा, नैतिकता शून्य व्यवसाय और मानवता विहीन विज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं होता। यह सर्वोदय समाज की व्यवस्था है जो विकेन्द्रित राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा तंत्र मुक्ति में ही संभव है। अहिंसक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य और मानवतावादी दृष्टिकोण आदि सभी को रखा जा सकता है। अहिंसक राज्य व्यवस्था कोई निरपेक्ष और पूर्ण व्यवस्था का सूचक नहीं है। कोई राज्य अधिक से अधिक अहिंसक हो सकता है। अहिंसक शिक्षा में हाथ, हृदय और मस्तिष्क को समुचित पोषण मिलता है तथा उससे व्यक्ति का चरित्र निर्माण होता है। शीघ्र और कम खर्च में कम कठिनाई से मिलने वाले न्याय को, संयम और प्रकृति की सहायता से की जाने वाली चिकित्सा को शांति के लिए अस्त्र-शस्त्र, सेना व पुलिस के स्थान पर अहिंसक स्वयं सेवी सत्याग्रही के प्रयोग को अहिंसक व्यवस्था के अन्तर्गत माना जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गांधीजी के अनुसार व्यवस्थामूलक अहिंसा के तीन स्वरूप थे—

1. आर्थिक स्वरूप
2. सामाजिक स्वरूप
3. राजनैतिक स्वरूप

अहिंसा के आर्थिक स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया है कि जो बात शुद्ध अर्थशास्त्र के विरुद्ध हो, वह अहिंसा नहीं हो सकती। अहिंसा घाटे का व्यापार नहीं होता। अहिंसा के दोनों पलड़ों का खर्च शून्य होता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का श्रीगणेश किया और खादी के प्रयोग का आह्वान किया। उनका कहना था कि विदेशी वस्तुओं का उपयोग करना अपने देश-वासियों के प्रति विरोध पैदा करना है तथा उनके साथ विश्वासघात करना है।

अहिंसा के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अस्पृश्यता की निन्दा की है और कहा कि यह हिन्दु समाज के लिए कलंक है। जन्म के कारण मानी गई इस अस्पृश्यता में अहिंसा धर्म और सर्वभूतात्मभाव का निषेध हो जाता है। इसके जड़ में संयम नहीं है, उच्चता की एक उद्धत भावना ही यहां बैठी है। इसलिए यह स्पष्टत: अधर्म है।

अहिंसा का राजनैतिक स्वरूप उनके सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन में प्रतिबिंबित हुआ है। वे सत्य का आग्रह अहिंसक साधन से करते थे। उनकी दृष्टि में सत्याग्रह का तात्पर्य है दूसरे की गलती को हिंसक तरीके से नहीं बल्कि स्वयं धैर्यपूर्वक कष्ट सहकर तथा गलती करने वालों के प्रति सहानुभूति और प्रेम दिखाकर सुधारना। उन्होंने सत्याग्रह को सबसे बड़ी शक्ति की संज्ञा दी है और बताया है कि सत्याग्रह, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के बिना संभव नहीं है।

5.2.15 अहिंसा का प्रयोग

प्राचीन काल से ही संस्कृति के शिखर पुरुषों एवं दार्शनिकों ने लोगों के निजी जीवन को सुधारने का, उनसे व्यक्तिगत व्यवहार में अहिंसा आदि गुणों का उपयोग कराने का बहुत प्रयत्न किया। उनसे प्रेरणा लेकर अनेक आदमी अपना-अपना लक्ष्य प्राप्त करने में लगे। इससे उन आदमियों का निजी जीवन बहुत सुधरा। उन्होंने अपने खान-पान, यात्रा, सोने-बैठने आदि में अहिंसा का बेहद परिचय दिया, इसमें संदेह नहीं; तथापि समाज में उनकी संख्या हमेशा ही बहुत अल्प रही। यति, साधु-संन्यासी आदि देश में आखिर कितने होते हैं। फिर, इनमें से कुछ की अहिंसा-साधना बहुत कुछ बाहरी या दिखावे की रही। इस प्रकार सच्चे अहिंसक बहुत कम रहे, और ये प्राय: समाज से पृथक पड़ गये। समाज के विविध अंग—हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई या मुसलमान आदि में कुछ बहुत ही पहुंचे हुए महात्माओं, भक्तों और पुजारियों आदि का प्रयास सामूहिक रूप में लोगों को विशेष प्रभावित न कर सके।

गांधीजी की विशेषता यह रही है कि उन्होंने अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन का सुधार करने तक ही परिमित न रखकर उसे सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। उन्होंने बतलाया और अपने उदाहरण से दिखलाया कि अहिंसा को सामूहिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में किस प्रकार काम में लाना चाहिए और जब समाज में कोई बुराई फैली हुई हो तो अहिंसा-वृत्ति को किस प्रकार उसका प्रतिकार करना चाहिए। अहिंसक प्रयोग व प्रतिरोध के संबंध में विख्यात अहिंसक शास्त्री रिचर्ड बी. ग्रेग ने कहा है, ''आधुनिक युग में गांधीजी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं, जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धांत को विकसित किया है। संगठित सामूहिक रूप से बड़े आन्दोलनों में इसका उपयोग किया है और अनेक कठिन परिस्थितियों में वास्तविक सफल लड़ाइयां लड़कर इस सिद्धान्त के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया है।''

भारत में गांधीजी ने एक नये युग का प्रवर्तन किया। सत्य और अहिंसा का मार्ग उन्होंने ही नये संस्कारों से अधिक तेजस्वी बनाया और इसका अभिनव रूप न केवल भारत के सामने अपितु अखिल मानव- जाति के सामने रखा। अहिंसा और सत्य गांधीजी की जीवन निष्ठा के बुनियादी आधार हैं। गांधीजी ने उत्कृष्ट चिन्तनयुक्त जीवन-साधना करते-करते जो रामबाण, अमोघ साधन या शस्त्र पाया, इसका नाम उन्होंने दिया—''सत्याग्रह''।

5.2.16 सत्याग्रह

गांधीजी का सत्याग्रह से तात्पर्य अहिंसा में आस्था रखने वाले मनुष्य का ''सत्य के प्रति आग्रह'' है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अहिंसा के साथ ही साथ सत्य का समावेश हो जाने पर एक नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। सत्याग्रह में सभी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बातें सत्य के सन्दर्भ में ही कही जाती हैं जिससे दूसरों को थोड़ा भी कष्ट न हो, यह सत्याग्रह का उच्च आदर्श है। सत्याग्रह सत्य की निरापद खोज है। इसके लिए व्यक्ति जीवनपर्यन्त प्रयास करता हुआ संघर्षरत रहता है। सत्याग्रह में स्वयं ही सब कुछ सहन किया जाता है, इसलिए इसमें वैर-भावना का जन्म किसी भी रूप में नहीं हो पाता है। गांधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ विरोधी को कष्ट देकर नहीं, वरन् स्वयं कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा करना है। उन्होंने सत्याग्रह को कार्य की सीधी पद्धति के रूप में देखा है। प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक डॉ. सीतारमैया ने सत्याग्रह के रचनात्मक पक्ष पर बल देते हुए कहा है कि सत्याग्रह एक विधेयात्मक शक्ति के रूप में कार्य करता है जिसका प्रभाव अनुभवसिद्ध है।

सत्याग्रह ''सत्य'' और ''आग्रह'' से निर्मित मानसिक सामासिक शब्द है, जिसका अर्थ है—''सत्य का आग्रह'' किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति सत्य के भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं इसलिए सत्याग्रह के अर्थ में भी विभिन्नता आ गई है। गाँधीवादी विचारक जयन्ततुजा बन्दोपाध्याय ने गांधी के सत्य के मूल्यात्मक अर्थ पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार अपने मूल्यात्मक अर्थ में सत्य न्याय का द्योतक है। इसलिए ''सत्याग्रह'' का अर्थ हुआ ''न्याय का आग्रह''। गाँधीवादी विचारक डॉ. दासगुप्ता ने सत्य को मौलिक धारणा न मानकर इसे सामाजिक व्यत्पन्न वस्तु माना है। उन्होंने कहा है कि मौलिक धारणा अहिंसा है, जिसका मुख्य अर्थ है—''अशोषण अत: सत्याग्रह सामाजिक सत्य के रूप में अशोषण के रूप में एक अहिंसक प्रक्रिया है। अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति तुलसी ने सत्य ही भगवान है, सत्य ही जीवन है, सत्य ही सबसे बड़ा शस्त्र है, सत्य ही विश्वास है और सत्य की प्राप्ति में ही व्यक्ति का पूर्ण विकास है, कहकर सत्य के सर्वांगीण स्वरूप का प्रतिपादन किया है। गांधी ने सत्याग्रह को सत्य शक्ति के रूप में स्वीकार किया था तथा सत्य का अर्थ आत्मा माना था। गांधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है—आत्म शक्ति, प्रेम शक्ति तथा सत्य शक्ति का आग्रह। अहिंसा के प्रयोग हेतु सत्याग्रह वह प्रक्रिया है जिससे आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति का विकास होता है। न्याय और अशोषण आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति के विकास के लिए आवश्यक है।

वास्तव में मध्यकालीन विश्व पुरुषों के उपरांत विश्व के मानवीय जीवन पर सर्वाधिक सशक्त श्रेयस्कर प्रभाव गांधीजी का पड़ा और सर्वाधिक सशक्त अनिष्टकर प्रभाव रहा आधुनिक उद्योगवाद, स्टेटवाद, हिंसा, युद्ध एवं एकाधिपत्य की लालसा का। अत: विश्व-इतिहास की इन दोनों धाराओं को समझते हुए ही हम गांधीजी को भली-भांति समझ सकते हैं।

गांधीजी अपने विवेक-बल से प्रत्येक वस्तु के दोनों ही पक्षों को देखने और समझने के पक्षधर थे। उनके समक्ष समस्त विश्व की बौद्धिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्य था। साथ ही उसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान विश्व-इतिहास भी उनके बौद्धिक पटल पर उभरा रहता था। अपनी मनीषा की आंतरिक संरचना के प्रति भी वे सदा सजग एवं मननशील रहे। इस प्रकार उन्होंने न केवल बाहर के दृश्य को, अपितु अपने भीतर की दर्शन-शक्ति के स्वरूप को भी समझने की साधना की। स्वस्थ और अनासक्त बुद्धि से विश्व के समस्त चिंतन-प्रवाहों एवं क्रिया-प्रवाहों का सत्व और मर्म उन्होंने समझा तथा अपनी आंतरिक दर्शन-शक्ति को भी साधना द्वारा अधिकाधिक विकसित और विस्तृत करते रहे। उसी के प्रकाश में उन्होंने अपनी विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि को रचा। फलत: वह उनके सम्पूर्ण जीवन में व्यक्त हुई, प्रतिफलित हुई। सत्य और अहिंसा गांधीजी के जीवन के मूलाधार है, धर्म-साधना उनके जीवन का पुरुषार्थ और लक्षण है तथा मोक्ष उनका परम साध्य।

गांधीजी अहिंसा के व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयोग को तथा इस भावना में उत्तरोत्तर विकास को संभव मानते थे। कालान्तर में अपने जीवन में प्रयोगों तथा नेतृत्व के माध्यम से इसे सिद्ध भी किया और जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं का अहिंसक सम्मानजनक समाधान प्रस्तुत किया। वस्तुत: आज भी अहिंसा उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी पूर्व में थी। वास्तव में इसकी अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टि से वर्तमान में अधिक है। आवश्यकता केवल इसके पक्ष को समझने तथा अपनी वृत्तियों के सुधार की है।

5.3 विनोबा का अहिंसा दर्शन

विनोबा गाँधी की अहिंसा को सैद्धांतिक दृष्टि से स्वीकार करते हैं परंतु इस सिद्धान्त के आधार पर नये-नये शोधों की आवश्यकता पर बल देते हैं। इन्होंने अहिंसा की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उसमें अहिंसा के भावात्मक और रचनात्मक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तथा इसके मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है। अपनी व्याख्या में इन्होंने अहिंसा के तात्त्विक आधारों का भी विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया है।

5.3.1 निषेधात्मक अहिंसा

विनोबा के अनुसार अहिंसा का अर्थ है हिंसा से निवृत्त होना। हिंसा से निवृत्त होने का अभिप्राय है आत्मरक्षार्थ और आक्रमक—दोनों प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना। अहिंसा के पालन में पूर्णरूपेण हिंसा के त्याग के पीछे विनोबा ही यह युक्ति है कि हिंसा की कोई सीमा नहीं होती है। महाभारत का इतिहास यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति हिंसा में निर्धारित सीमा का भी पालन नहीं करता है। विजय की लिप्सा में वह सीमा का उल्लंघन करता है। अत: सीमित रूप में भी हिंसा का वरण करना अग्राह्य है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि विदेशी आक्रमण होने पर कोई देश अपनी तैयारी करना बंद कर दे। यहां तैयारी से विनोबा का अभिप्राय केवल बंदूक की तैयारी से नहीं है। 'तैयारी' मन की एक अवस्था का सूचक है। जब मन की यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो हम संयमित रूप से बंदूक का प्रयोग तब करते हैं जब कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता है। फिर भी हममें विपक्षी के प्रति दया और पश्चात्ताप की भावना बनी रहती है।

विनोबा हिंसा की भाषा का भी निषेध करते हैं। किसी सेवा के कार्य के लिए संगठन की अपेक्षा रखना यह हिंसा की भाषा है। उनकी राय में संगठन में हिंसा छिपी रहती है। इसीलिए जितना प्रभाव शुद्ध चित्त वाले व्यक्ति का समाज पर पड़ता है। उतना किसी संस्था जैसे चर्च, राज्य-सत्ता, शांतिसेना इत्यादि का नहीं। इसका कारण यह है कि अहिंसा का प्रचार देह से नहीं होता है। देह हिंसामय है, देह से ऊपर उठने पर ही अहिंसा को ग्रहण किया जाता है। निश्चय ही संगठन और तंत्र देह का सूचक है। इससे हिंसा होना अनिवार्य है। अत: विनोबा कहते हैं कि ''अहिंसा की ज्योति का प्रचार बाह्य तांत्रिक संगठनों से होने वाला नहीं है।'' परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि अहिंसा के पूर्णत: पालन के लिए विनोबा स्थूल रूप से देह का त्याग आवश्यक मानते हैं। वे देहभाव के त्याग पर बल देते हैं। विनोबा के अनुसार सत्य के अभाव में व्यापार से भी हिंसा होती है तथा इसके बिना दया के उपयोग से हिंसा को बढ़ावा मिलता है। अहिंसा के साथ सत्य सदैव जुड़ा रहता है। पशुओं को संहार से बचाने की जिम्मेवारी मनुष्य नहीं ले सकता। उनकी राय में—''जिसने पालन करने की जिम्मेवारी उठायी, उसको संहार की और जन्म देने की भी जिम्मेवारी उठानी चाहिए। मनुष्य इतनी भारी जिम्मेदारी नहीं उठा सकता। वह तो ईश्वर का ही काम है।'' अत: अहिंसा की शक्ति का प्रयोग मानवों के बीच वैरभाव हटाने, चित्त में मत्सर, क्रोध इत्यादि के हटाने में ही उचित है। मानवों के व्यवहार में ही हमारी अहिंसा की कसोटी होती है। अहिंसा न तो 'ढीली-ढाली' सहनशीलता है और न असह्य नियम। अत: अहिंसा के नाम पर व्यर्थ शरीर को कष्ट देना और अन्याय को सहना उचित नहीं है। चाहे माता-पिता या सरकार के रूप में ही कोई क्यों न आवे, अन्यायियों का प्रतिकार आवश्यक है, परंतु प्रतिकार के पीछे हिंसा या क्रोध का न होकर दया का भाव होना चाहिए। इसीलिये विनोबा ने व्यापक अर्थ भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा और अद्रोह को अहिंसा का पर्याय माना है। इस प्रकार की अहिंसा सहनशीलता से आरंभ होती है परंतु इसी बीच उपाय-संशोधन भी चलता रहता है। अत: सहिष्णुता अंतिम रूप से विजय में परिणत होती है। अर्थात् व्यक्ति स्वयं निर्विकार होता है और दुर्जनों की दृष्टि को भी शुद्ध करता है। अत: इस प्रकार की सहनशीलता विवेकपूर्ण है।

5.3.2 भावात्मक अहिंसा

विनोबा अहिंसा के भावात्मक पक्ष को ही अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा इसे सामूहिक समाधि का विषय मानते हैं। वे विज्ञान और अध्यात्म के आधार पर 'सामूहिक अहिंसा' के पालन पर बल देते हैं। भावात्मक अहिंसा यद्यपि अनेक शुभ गुणों से समाविष्ट है, परंतु विनोबा के अनुसार यह सत्य, प्रेम और करुणा का अखंड रूप है। प्रेम का अर्थ 'अनुरोधी' और 'प्रतिरोधी'—दोनों प्रकार का प्रेम है। अनुरोधी प्रेम का अर्थ है, प्रेम करने वालों से प्रेम करना। प्रतिरोधी प्रेम का अर्थ है दुश्मनों पर, द्वेष करने वालों पर भी प्रेम करना। अनुरोधी प्रेम स्वाभाविक है। वस्तुत: प्रतिरोधी प्रेम के आचरण से ही अहिंसा की शक्ति बढ़ती है। प्रेम में दंड और त्याग—दोनों का सम्मिश्रित रूप रहता है जिसका आदर्श उदाहरण माता के व्यवहार में मिलता है। प्रेम में समता का भाव होता है परंतु इसे गाणितिक समता नहीं कह सकते हैं। वस्तुत: इसमें समाधान होता है जिसमें छोटे-बड़े, सक्रिय-निष्क्रिय सभी का समाधान निहित है। इसका उदाहरण परिवार में मिलता है, विनोबा के अनुसार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रेम, सत्य के अभाव में निर्दोष अहिंसा का रूप धारण नहीं कर सकता। अहिंसा व्रत के पालन में ''आत्मवत् सर्वभूतेषु'' अर्थात् अपने समान ही सृष्टि के सभी भूतों पर प्यार किया जाता है। इसमें अपने घर के समान ही पड़ोसियों और ग्राम पर प्रेम करते हैं। अंतत: यह भी कहा जा सकता है कि समस्त जगत से अपने समान प्रेम करना अहिंसा का पालन करना है।

भावात्मक अहिंसा का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रचनात्मक कार्य में श्रद्धा रखना है। ऐसी अहिंसा उत्पादक होती है। उनकी राय में—''रचनात्मक कामों में, मनुष्य के विकास करने वाली सेवा में तन्मय हो जाना ही अहिंसा का मुख्य रूप है। चूंकि अहिंसा में प्रेम के शस्त्र हैं इसलिए इसका स्वरूप उत्पादक है, संहारक नहीं। यदि उसमें किसी प्रकार का संहार है, तो वह है द्वेष, विषम भाव, भूख और अनारोग्य का।'' अहिंसा का रचनात्मक, उत्पादक और सेवामय रूप का चित्रण विनोबा की मौलिक देन है। इसे अहिंसा की युगानुकूल व्याख्या भी कही जा सकती है। इसमें उपयोगिता का भी समावेश है। भूदान, ग्रामदान, श्रमदान, संपत्तिदान इत्यादि रचनात्मक सत्याग्रह और अहिंसा के ही प्रयोग हैं।

5.3.3 मनोवैज्ञानिक अहिंसा

विनोबा की अहिंसा में बाहर की क्रिया से अधिक आंतरिक भावों और निष्ठाओं पर बल दिया गया है। इसे मनोवैज्ञानिक अहिंसा की संज्ञा दी जा सकती है। इसके अनुसार अहिंसा स्थितप्रज्ञता का सूचक है। विनोबा की राय में—''विचारों का सन्तुलन कायम रखने और बुद्धि की समता डिगने न देने का ही नाम अहिंसा है। गुस्से में आकर सामने वाले को मार देने का नाम हिंसा है और गुस्से में आकर उपवास करने का नाम 'अहिंसा' ऐसी बात नहीं। अहिंसा सिर्फ बाहर की क्रिया नहीं, हृदय की निष्ठा है। परंतु स्थितप्रज्ञा और समत्व की प्राप्ति के लिए आत्मशोधन, आत्मशुद्धि, मुक्त सेवा, विश्वव्यापी प्रेम और निर्भयता की मुख्य आवश्यकता है। निर्भयता को तो विनोबा ने संपूर्ण अहिंसा का एक अंगीभूत तत्त्व ही मान लिया है। इसीलिये अहिंसा का एक अर्थ वे निर्भयता करते हैं। निर्भयता के अंतर्गत स्वयं किसी से नहीं डरना और दूसरों को नहीं डराना—दोनों आता है। जो व्यक्ति दूसरे को डराता है, वहीं स्वयं डरता है। विनोबा का यह कहना है कि वास्तव में मनुष्य अपने ही चित्त से डरता है। संसार में किसी भी देश के व्यक्ति का चित्त दूसरे देश के व्यक्ति के चित्त से भिन्न नहीं है। यदि व्यक्ति अपना चित्त शुद्ध कर ले, तो फिर न डरने की आवश्यकता रहती है और न डराने की। अहिंसा-व्रत के पालन में निर्भयचित्त का होना बहुत ही आवश्यक है।

विनोबा यह मानते हैं कि वास्तव में अहिंसा का निर्धारक आंतरिक राग-द्वेष ही है। इसलिए अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वासनाओं का त्याग आवश्यक है। गीता का यह सूक्ष्म विचार ''अशांत वृत्ति से ऊपर-ऊपर से अहिंसक साधन इस्तेमाल करने वाले की अपेक्षा शांतवृत्ति से स्थूल हिंसा करने वाला अधिक अहिंसक हो सकता है''—अहिंसा के आंतरिक पक्ष, चित्तशुद्धि पर ही अधिक बल देता है। इसीलिए इस अहिंसा के महत्त्व को निरूपित करते हुए विनोबा का कहना है—''चित्त को शांत और प्रसन्न रखने वाला और बाहर से भी अहिंसक साधनों का आश्रय लेने वाला मनुष्य नि:संदेह अहिंसक है, स्थितप्रज्ञ है। ऐसी पूर्ण अहिंसा के सामने चाहे जितनी बड़ी दुर्जनता हो, ठहर नहीं सकती। प्रज्ञा की स्थिरता ही अहिंसा का सार है और जिसके पास वह है, आज के विज्ञान युग से अनुरूप सत्याग्रह आदि अहिंसक साधनों से विजयी हो सकता है, फिर उसका मुकाबिला सोवियत के साथ हो या साम्राज्यवाद के साथ या शैतान के साथ।''

अहिंसा की चार भूमिकाएं मानी हैं—व्यावहारिक (Pragmatic), सैद्धांतिक (Theoritical), वैचारिक (Ideological) और सर्वातीत (Transcendental)। पहली भूमिका नेहरू की, दूसरी पाश्चात्य शांतिवादियों की, तीसरी वैज्ञानिकों की और चौथी भूमिका विनोबा की है। वस्तुत: सर्वातीत भूमिका में ऊपर की सभी भूमिकाओं का सार आ जाता है परंतु इनके अतिरिक्त यह आध्यात्मिक आधार पर खड़ा है। अत: यह अहिंसा की सर्वोच्च भूमिका है। विनोबा के अनुसार अहिंसा व्रत का पालन व्यक्ति, संस्था, समाज, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय जगत सभी के लिए वांछनीय है। इसके पालन से व्यक्ति अपने ऊपर भरोसा कर सकता है तथा वातावरण की बुराइयों से अपने को मुक्त रख सकता है। इसके पालन से व्यक्ति ही क्या विश्व भी विनाश से बच सकता है। परंतु इसके लिए अहिंसक पद्धतियों का विकास करना अनिवार्य है। विनोबा अहिंसा को 'परम धर्म' ही नहीं निकट-धर्म भी मानते हैं। साथ-ही-साथ शीघ्र-से-शीघ्र इस धर्म के पालन की आवश्यकता पर जोर देते हैं। उनके अनुसार 'अहिंसा में तीव्र संवेग होना चाहिए'। यह मानना कि अहिंसा को धीरे-धीरे अपनाना चाहिए —उनकी राय में 'खतरनाक' है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विनोबा की अहिंसा के सिंहावलोकन से ऐसा लगता है कि इनके विचार में ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो किसी-न-किसी रूप में गाँधी के विचार में न हो। परंतु विवरण की नवीनता, अहिंसा के विभिन्न गुणों का नवीन संगठन तथा कुछ तत्त्वों पर विशेष बल देना—इनकी अपनी मौलिकता है। इस प्रकार विनोबा ने अहिंसा का मात्र विवरण ही प्रस्तुत नहीं किया अपितु उसे काफी स्पष्ट, संगत, सुगठित एवं व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और अहिंसा के नये क्षितिज स्थापित किये हैं।

5.4 आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन

मानव जाति का इतिहास निरन्तर उन्नति एवं प्रगति का रहा है, अवनति का नहीं। उन्नति को इस विकास यात्रा में समय-समय पर विभिन्न धर्म एवं दार्शनिक परम्पराओं तथा महापुरुषों द्वारा स्थापित उदात्त मूल्यों ने प्रकाश स्तम्भ की भूमिका निभाई है। अहिंसा इन्हीं उदात्त मूल्यों की आवश्यक एवं उपयोगी कड़ी है। अहिंसा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति का। आदिकाल से ही अहिंसा का व्यवहार मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भों में उल्लेखनीय भूमिका निभाता रहा है। कालान्तर में मानव सभ्यता के विकासक्रम में कई परम्पराएं मील के पत्थर के रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं जिन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त एवं प्रयोग को उच्चतर धरातल पर स्थापित किया।

अहिंसा के सिद्धान्त और प्रयोग के प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में सामान्यत: एक धारणा बनी है कि गांधीजी की मृत्यु के साथ ही अहिंसा का विकास अवरूद्ध हो गया है। किन्तु यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर चिन्तन करे तो निष्कर्ष आता है कि यह धारणा सम्पूर्ण सत्य नहीं है। गांधीजी की मृत्यु उपरान्त भी भारतवर्ष में कई ऐसे दिव्य व मनीषी पुरुष हुए हैं जिन्होंने न केवल अहिंसा की व्यावहारिकता को नये अछूते सन्दर्भ प्रस्तुत किए, अपितु व्याप्त समस्याओं के समाधान हेतु मानव एवं व्यवस्था को अहिंसक बनाने के सूत्र भी प्रस्तुत किए। वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता के समन्वयात्मक व्यक्तित्व के निर्माण हेतु नवीन अर्थपूर्ण सिद्धान्त एवं तर्कपूर्ण पद्धतियों का भी सृजन किया। अहिंसा शास्त्रियों की इस श्रृंखला की कड़ी है आचार्य महाप्रज्ञ, जिन्होंने अहिंसा के पुरातन सिद्धान्त की वर्तमान के सन्दर्भ में नयी वैयक्तिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, शरीर-शास्त्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक आदि व्याख्याएं की। हिंसा की उत्पत्ति के आन्तरिक एवं बाह्य कारणों तथा इससे उत्पन्न कार्यों की विवेचना का अनुसंधान के आधार पर अहिंसक व्यक्तित्व निर्माण हेतु अहिंसा प्रशिक्षण की अभिनव प्रयोग पद्धति का आविष्कार कर स्वस्थ समाज संरचना का एक आधार प्रस्तुत किया। प्रस्तुत पाठ में इन्हीं बिन्दुओं की विवेचना को अध्ययन, विचार एवं मंथन का विषय बनाया जायेगा।

5.4.1 अहिंसा का दार्शनिक आधार

हिंसा एवं अहिंसा दो विरोधी प्रवाह हैं। हिंसा जीवन की अनिवार्यता और आत्म शक्ति के अल्प विकास की दशा में पनपने वाली बुराई है जबकि अहिंसा आत्मा की स्वाभाविकता और जीवन की उपयोगिता है। आत्मा, शरीर, वाणी और मन की सहयोगी स्थिति का नाम जीवन है। इस सहयोगी स्थिति का जो अधिकारी होता है, वह व्यक्ति कहलाता है। जीवन स्व (आत्मा) और पर (शरीर, वाणी और मन) का संगम है। व्यक्ति भी स्व-पर के संगम से बनी हुई संस्था है। जीवन का स्व-अंश स्वभाव और पर-अंश विभाव है। वास्तव में जो स्वाभिमुखता या स्वरमण है, वही अहिंसा है एवं पराभिमुखता या विभाव हिंसा है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जितने भी धर्म एवं दार्शनिक परम्पराएं रही हैं उनमें अहिंसा धर्म को शुद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ माना गया। सम्पूर्ण जगत को देखने एवं परखने के उपरान्त समस्त जीवों के भेद जानकर इस शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया गया, जिसमें कोई दोष नहीं निकाल सकता, मतभेद प्रदर्शित नहीं कर सकता। यह शाश्वत धर्म विशाल, अनन्त है तथा बन्धन से परे है।

भारत में अन्य परम्पराओं के अतिरिक्त मुख्यत: दो प्राचीन परम्पराएं श्रमण एवं ब्राह्मण परम्पराएं सर्वाधिक प्रचलित हैं। श्रमण परम्परा में सम शब्द को सर्वाधिक मूल्य दिया गया। यह ''सम'' शाब्दिक रूप से समता को बोध कराता है। आचार्यश्री के अनुसार यही समतावाद अहिंसा का मुख्य आधार है। वे स्वीकारते हैं कि अहिंसा की चेतना को जगाने के लिए समतावाद एवं एकात्मवाद ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भेद नय की दृष्टि से विचार करें तो निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा स्वतंत्र है। जितने व्यक्ति हैं, प्राणी हैं, उतनी ही आत्माएं हैं। प्रत्येक आत्मा का अलग अस्तित्व माने तो समतावाद फलित होगा। समता का आधार है सब जीवों के प्रति समभाव की अनुभूति। सब जीव शरीर, जाति, वर्ण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदि नानात्व से विभक्त बने हुए हैं। विभक्त में अविभक्त को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। भेद में अभेद खोजने पर भी समता का सिद्धान्त प्राणवान बनता है। हिंसा की समस्या के सन्दर्भ में यदि अभेद चेतना जाग्रत की जाए तो समाधान का सूत्र प्राप्त हो सकता है। जिस दिन व्यक्ति के भीतर यह चेतना जागेगी उस दिन करुणा का अथाह सागर प्रवाहित होगा, सारे भेद समाप्त हो जायेंगे। तब समस्त आत्माओं को केवल समान ही नहीं अपितु एकात्मरूप में देखने की स्थिति को अवकाश मिलेगा। अहिंसा की चेतना को जगाने वाला यह सूत्र वैचारिक अहिंसा को जाग्रत कर सामाजिक समस्याओं, पारस्परिक व्यवहारों में परिवर्तन लाने का एक अमोघ सूत्र बन सकता है।

पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष आदि हिंसा के प्रारंभिक रूप है, किन्तु ये मुख्यत: मिथ्या अभिनिवेश पर आधारित होते हैं। वास्तव में हमारा जगत् द्वन्द्वात्मक अथवा भेदाभेदात्मक है। अभेद छिपा रहता है और भेद सामने आता है। मनुष्य मनुष्य में अनेक प्रकार के भेद हैं—

1. मान्यता अथवा अवधारणा का भेद। 2. विचार का भेद। 3. रुचि का भेद।
4. स्वभाव का भेद। 5. संवेग का भेद।

मान्यता-भेद—मान्यता-भेद के आधार पर अनेक सम्प्रदाय बने हैं, उनके अनुयायियों की संख्या का विस्तार हुआ है। सांप्रदायिक भेद होना वैचारिक स्वतंत्रता का लक्षण है। मनुष्य यांत्रिक नहीं है। वह चिन्तनशील प्राणी है, अपने ढंग से सोचता है सिद्धान्त का निर्धारण करता है और स्वीकार करता है।

मनुष्य चिन्तनशील होने के साथ-साथ संवेगयुक्त भी है। यदि यह केवल चिंतनशील होता तो भेद भेद ही रहता। वह विरोध का रूप लेकर साम्प्रदायिक विद्वेष, कलह और झगड़े की स्थिति का निर्माण नहीं करता। सांप्रदायिक उत्तेजना का मूल कारण सिद्धांत-भेद नहीं है, उसका कारण है संवेगजनित आग्रह।

विचार-भेद—प्रत्येक मनुष्य का अस्तित्व स्वतंत्र है इसलिए चिन्तन का भेद होना स्वाभाविक है। यदि वह यन्त्र द्वारा संचालित होता है तो एक ही प्रकार से सोचता। वह वैसा नहीं है। सबकी अपनी-अपनी चेतना है इसलिए अपना-अपना चिन्तन हो, यह अस्वाभाविक नहीं है। यह विचार का भेद संवेग से प्रभावित होकर संघर्ष की स्थिति का निर्माण करता है।

रुचि-भेद—इन्द्रिय संवेदना सब गुणों की एक जैसी नहीं होती। एक ही वस्तु किसी मनुष्य के लिए सुख के संवेदन का हेतु बनती है और किसी के लिए दु:ख के संवेदन का। संवेदन की भिन्नता में कोई संघर्ष की चिनगारी डालने वाला संवेग ही है।

स्वभाव-भेद—जितने मनुष्य उतने स्वभाव, नाना प्रकार की आदतें। स्वभाव भेद के लिए उत्तरदायी है संवेग।

संवेग-भेद—मनुष्य-मनुष्य में होने वाले भेद का प्रमुख कारण है संवेग किन्तु सब मनुष्यों में संवेग समान नहीं होता। उसका तारतम्य ही भेद का सृजन करता है। संवेग की तारतम्यता के मुख्य प्रकार तीन हैं—1. मृदु—अल्प मात्रा वाला संवेग। 2. मध्य—मध्य मात्रा वाला संवेग। 3. तीव्र—अधिक मात्रा वाला संवेग।

मृदु के तीन प्रकार हैं— 1. मृदु। 2. मध्य मृदु। 3. अधिमात्र मृदु।

मध्य के तीन प्रकार हैं—1. मध्य। 2. मध्य मध्य। 3. अधिमात्र मध्य।

मृदु संवेग वाला व्यक्ति शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करता है। वह तोड़-फोड़, कलह आदि प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेता और आत्महत्या तथा परहत्या की कल्पना भी नहीं करता।

मध्य संवेग वाला व्यक्ति कलह, उपद्रव, तोड़-फोड़ आदि में प्रवृत्त होता है।

मध्य-मध्य संवेग वाला व्यक्ति वर्ण और जाति के आधार पर घृणा करता है, छूआछूत में विश्वास करता है, ऊंच-नीच की भेदरेखा को विस्तार देता है।

अधिमात्र मध्य संवेग वाला व्यक्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाता है, अभिनिवेशवश सांप्रदायिक संघर्ष की स्थिति का निर्माण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तीव्र संवेग वाला व्यक्ति आत्महत्या, परहत्या जैसे हिंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है।

मध्यतीव्र संवेग वाला व्यक्ति जातीयता और सांप्रदायिकता के आधार पर हिंसा भड़का देता है।

अधिमात्र तीव्र संवेग वाला व्यक्ति जनता को युद्धोन्मुख की ओर ले जाता है।

5.4.2 हिंसा और एकांगी दृष्टिकोण

संवेग जितना तीव्र होता है, उतना ही प्रबल हो जाता है। मिथ्या अभिनिवेश और एकांगी आग्रह हिंसा के मुख्य बिन्दु हैं। हम हिंसा को केवल शस्त्रीकरण और युद्ध तक सीमित करना नहीं चाहते। पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता, जातीय संघर्ष, सांप्रदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष—ये सब हिंसा के प्रारम्भिक रूप हैं और ये ही मानव-जाति को शस्त्रीकरण और युद्ध की दिशा में ले जाति हैं। नि:शस्त्रीकरण और युद्धवर्जना के सिद्धांत बहुत अच्छे हैं किंतु सबसे पहले हिंसा के प्रारम्भ बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। मिथ्या अभिनिवेश समाज को क्रूरता की रेखा तक ले जाता है, हिंसा के द्वार खुल जाते हैं। अभिनिवेश को कम करने के लिए अनेकांत एक महत्त्वपूर्ण विकल्प है जो वास्तव में वैचारिक अहिंसा का ही पर्याय है।

अनेकांत के आधार सूत्र—अनेकांत अभिनिवेश और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। उसके मूलभूत सिद्धांत पांच हैं—

1. सप्रतिपक्ष 2. सह-अस्तित्व 3. स्वतंत्रता 4. सापेक्षता 5. समन्वय

सप्रतिपक्ष

दार्शनिक पक्ष—इस विश्व में वही अस्तित्व है, जिसका प्रतिपक्ष है।

अस्तित्व सप्रतिपक्ष है—यत् सत् तत् सप्रतिपक्ष। कोई भी अस्तित्व ऐसा नहीं, जिसका प्रतिपक्ष न हो।

व्यावहारिक पक्ष—प्रतिपक्ष अपने अस्तित्व का अनिवार्य अंग है, पूरक है, इसलिये उसे शत्रु मत मानो। उसके साथ मित्र का सा व्यवहार करो। किन्तु राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणालियों में परस्पर आदर का व्यवहार नहीं है, शत्रु जैसा व्यवहार है। लोकसभा में विपक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है, फिर भी उसके प्रति आदर का दृष्टिकोण कम रहता है, विरोधी जैसा व्यवहार अधिक होता है।

साधना-पक्ष—प्रतिपक्ष का सिद्धांत सार्वभौम नियम है। फिर भी मनुष्य अपनी संवेगात्मक प्रकृति और विरोधी हितों के कारण प्रतिपक्ष को अपना शत्रु मान लेता है। इस संवेगात्मक दृष्टिकोण को बदलने के लिए सामंजस्य की साधना बहुत सहयोगी बनती है। प्रतिपक्ष का आदर करना अस्तित्व को सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण पहलू है।

विरोधात्मक दृष्टिकोण को बदलने के लिए सामंजस्य की अनुप्रेक्षा की जाती है।

सह-अस्तित्व

दार्शनिक पक्ष—प्रत्येक वस्तु में अनन्त विरोधी युगल हैं। वे सब एक साथ रहते हैं।

व्यवहार-पक्ष—दो विरोधी विचार वाले एक साथ रह सकते हैं। तुम भी रहो और मैं भी रहूं, यही सूत्र हमारे जगत् का सौन्दर्य है। इसलिए विरोधी को समाप्त करने की बात मत सोचो। सीमा का निर्धारण करो। तुम अपनी सीमा में रहो, वह अपनी सीमा में रहे। सीमा का अतिक्रमण मत करो।

साधना-पक्ष—विरोधी हमारी मानसिक कल्पना है। सह-अस्तित्व में वही बाधक है। यदि हम भय और घृणा के संवेग का परिष्कार करें, तो सह-अस्तित्व की बाधा समाप्त हो सकती है। संवेग-परिष्कार के लिए सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा उपयोगी है।

स्वतंत्रता

दार्शनिक-पक्ष—प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वतंत्र है। कोई किसी के अस्तित्व में हस्तक्षेप नहीं करता, इसलिए सब पदार्थ अपने-अपने मौलिक गुणों के कारण अपनी विशिष्टता बनाए हुए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यवहार–पक्ष—मनुष्य की स्वतंत्रता अथवा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्यांकन किए बिना समाज स्वस्थ नहीं रहता। सामाजिकता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी वैयक्तिक स्वतंत्रता का मूल्य कम नहीं आंकना चाहिए।

साधना–पक्ष—एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक न बने। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपने विचार को ही सब कुछ माने, ऐसा व्यक्ति दूसरे की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किए बिना नहीं रहता। इस हस्तक्षेपी मनोवृत्ति को बदलने के लिए स्वतंत्रता की अनुप्रेक्षा बहुत मूल्यवान है।

सापेक्षता

दार्शनिक–पक्ष—हमारा अस्तित्व स्वतंत्र और निरपेक्ष है किन्तु हमारा व्यक्तित्व सापेक्ष है। व्यक्तित्व की सीमा में स्वतंत्रता भी सापेक्ष है। इसलिए कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नहीं है और वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं है इसलिए सापेक्ष है। विकासवाद का सूत्र है—जीवन का मूल आधार है संघर्ष। अनेकांत का सूत्र है—जीवन का मूल आधार है परस्परावलम्बन। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सहारे पर टिका हुआ है।

व्यवहार–पक्ष—एकांगी दृष्टिकोण वाले विचारक व्यक्ति और समाज को खंडित कर देखते हैं। कोई विचारक समाज को ही सब कुछ मानता है तो कोई विचारक व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है। अनेकांत का दृष्टिकोण सर्वांगीण है। उसके अनुसार व्यक्ति और समाज—दोनों सापेक्ष हैं। यदि समाज ही सब कुछ है तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है और यदि व्यक्ति ही सब कुछ है, तो समाज का कोई अर्थ नहीं होता। स्वतंत्रता की सीमा है सापेक्षता और सापेक्षता की प्रयोगभूमि है व्यक्ति एवं समाज के बीच होने वाला सम्बन्ध–सूत्र।

मानवीय सम्बन्धों में जो कटुता दिखाई दे रही है, उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर सम्बन्ध–विज्ञान को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, विचार, वृत्ति और अपने शरीर के साथ सम्बन्ध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के साथ आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण सम्बन्ध है, तो हिंसा अवश्यम्भावी है।

साधना–पक्ष—एकांगी अथवा निरपेक्ष दृष्टिकोण को बदलने के लिए अभ्यास आवश्यक है। परिवर्तन केवल जानने मात्र से नहीं होता। उसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास अपेक्षित है। सर्वांगीण और सापेक्ष दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए सापेक्षता की अनुप्रेक्षा अपेक्षित है।

समन्वय

दार्शनिक–पक्ष—कोई भी विचार समग्र सत्य नहीं होता। वह सत्यांश होता है। जैसे अपने विचार को सत्य मानते हो वैसे ही दूसरे के विचार में भी सत्य की खोज करो। अपने विचार को सत्य ही मानना और दूसरे के विचार को असत्य ही मानना एकांगी आग्रह है। यह एकांगी आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य की खोज का मार्ग है अनाग्रह। अनाग्रही मनोवृत्ति के उदय से समन्वयात्मकता सध सकती है।

उपर्युक्त मूल्य यदि जीवन में प्रतिष्ठित हो सके तो अहिंसा का व्यवहार मानव के लिए अधिक सुगम एवं सहज हो सकता है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से यदि देखा जाए तो वास्तव में हिंसा मनुष्य का स्वभाव नहीं अपितु उसकी विवशता है जबकि अहिंसा स्वभाव है, विवशता नहीं तथा यह स्वभाव विकसित हो सकता है—आस्था के आधार पर, विवेक के आधार पर, उपयोगिता के आधार पर। किन्तु यदि अहिंसा को केवल उपयोगिता के आधार पर स्वीकार किया जाएगा तो उसका विकास संभव नहीं है। उसकी आस्था, आत्मानुभूति, उपयोगिता और प्रवृत्ति—इस चतुष्पदी के रूप में स्वीकृति ही कारगर हो सकती है। इस सारी समीक्षा के पश्चात् जो विचार उभरकर आता है, वह अहिंसा को जीवन–दर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है। हिंसा से संतप्त मनुष्य अहिंसा की उपयोगिता अनुभव कर सकता है, पर इस तरह उसके विकास बीज अंकुरित नहीं हो सकते हैं। उनके अंकुरण के लिए आवश्यक है—समग्र दृष्टि का निर्माण, समस्त क्रांति का आह्वान और जीवन का समग्रता से समर्पण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.4.3 हिंसा के कारण

आचार्य महाप्रज्ञ हिंसा के कारण और परिणाम —दोनों ही एकात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। हिंसा स्वयं में प्रवृत्ति नहीं है, वह परिणाम है। हिंसा के कारण न हो तो वह निष्पन्न नहीं होती। कर्मवाद की भाषा में हिंसा का कारण है पूर्वकृत कर्म का विपाक। विज्ञान की भाषा में हिंसा का कारण है—रसायन। आचारांग सूत्र में हिंसा के चार कारणों का निर्देश है—1. वर्तमान जीवन के लिए, 2. प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, 3. जन्म, मरण और मोचन के लिए तथा 4. दु:ख प्रतिकार के लिए। प्रश्न व्याकरण सूत्र में हिंसा के पन्द्रह कारणों का निर्देश है, यथा—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, वैर, रति, अरति, शोक, भोग, अर्थ, कर्म, धर्म पराधीनता एवं मोह। आचार्य महाप्रज्ञ हिंसा के कारणों को भीतर भी देखते हैं तथा बाहर भी। वो हिंसा की उत्पत्ति के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों कारणों को स्वीकारते हैं जिन्हें वर्गीकरण के आधार पर निम्न बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है।

हिंसा : आन्तरिक कारक तत्त्व

शरीर के स्तर पर

1. नाड़ी, तंत्रीय असंतुलन
2. रासायनिक असंतुलन

सूक्ष्म शरीर के स्तर पर

1. कर्म विपाक
2. धुंधला आभामंडल

चेतना के स्तर पर

1. मानसिक तनाव
2. भावनात्मक तनाव
3. निषेधात्मक दृष्टिकोण
4. मानसिक चंचलता का अतिरेक
5. अहं भावना
6. हीन भावना
7. वैचारिक आग्रह या मिथ्या दृष्टिकोण

हिंसा :बाह्य कारक तत्त्व

1. असंतुलित समाज व्यवस्था
2. असंतुलित राजनैतिक व्यवस्था
3. शस्त्रीकरण की समस्या
4. जातीय और रंग भेद की समस्या
5. सांप्रदायिक समस्या
6. मानवीय संबंधों में असंतुलन
7. आर्थिक स्पर्धा और अभाव
8. संरचनात्मक अन्याय एवं शोषण

5.4.4 अहिंसक समाज संरचना

मानसिक शांति के लिए अहिंसा अनिवार्य है किन्तु सामाजिक विकास और विकासोन्मुख गति के लिए भी वह कम अनिवार्य नहीं है। इस अनिवार्यता की अनुभूति कराना उतना ही अनिवार्य है जितनी कि अहिंसा अनिवार्य है। अहिंसा के दो रूप हैं—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक अहिंसा केवल व्यक्ति की अन्तश्चेतना से संबंध रखती हैं। वह नितान्त वैयक्तिक होती हैं। व्यावहारिक अहिंसा की साधना समाज के संदर्भ में होती हैं। हजारों-हजारों आदमी एक साथ रहें और दूसरों को क्षति न पहुंचायें, यह व्यावहारिक अहिंसा है। यह समाज की आधारभित्ति है। दूसरों को विपन्न बनाकर अपने आपको सम्पन्न बनाने की मनोवृत्ति से समाज की नींव कमजोर होती है। इसलिए कुछ विचारकों के मन में अहिंसक समाज-रचना की कल्पना ने जन्म लिया। अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न बहुत मीठा है। इस समाजवादी युग में व्यक्ति और व्यक्तिकता की अपेक्षा समाज और सामाजिकता—ये शब्द अधिक प्रिय बने हुए हैं। अहिंसक व्यक्ति निर्माण की अपेक्षा अहिंसक समाज रचना में अधिक आकर्षण हैं। समाजवादी अवधारणा के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। समाज रचना के बदल जाने पर भी व्यक्ति नहीं बदले। फलत: समाज कठिनाइयों का अनुभव कर रहा है। अपराध, हत्या, अन्याय और क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाज नहीं करता, व्यक्ति करता है। नियंत्रण सामाजिक हो सकता है किंतु आचरण वैयक्तिक होता है। नियंत्रण और आचरण—इन दोनों में एकता स्थापित हो जाए तो सचमुच नए समाज-रचना की बात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सोची जा सकती है। अहिंसक समाज की रचना की पहली शर्त है—हृदय परिवर्तन। कानून और दण्ड-व्यवस्था को सामूहिक बनाया जा सकता है। हृदय-परिवर्तन को सामूहिक नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए कोई कानून या दंड-व्यवस्था प्रभावी नहीं हो सकती। उसका आधार एकमात्र व्यक्ति की अपनी इच्छा है। व्यक्ति और समाज, ये दो सापेक्ष इकाइयां हैं। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितों का संरक्षक है। व्यक्ति-विहीन समाज अस्तित्व में नहीं आता और समाज-विहीन व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाता। व्यक्ति और समाज—ये दोनों परिवर्तनशील सत्ताएं हैं। संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। संस्कार व्यक्तिगत होते हैं, इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जीवन पर संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति—तीनों प्रभाव डालती हैं। समाज को प्रभावित करने वाले दो तत्त्व हैं—सिद्धान्त और परिस्थिति। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तन से समाज परिवर्तित होता है और समाज के परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित होता है। व्यक्ति और समाज के बाह्य व्यवहार के परिवर्तन में यह बात घटित हो सकती है, किंतु व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन में यह घटित नहीं होती है।

मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता यदि किसी में है तो वह अहिंसा में ही है, अन्य किसी व्यक्ति में नहीं है। अहिंसा व्यक्ति की उन्मुक्तता स्वतंत्रता को स्वीकार करता है, वह परिस्थिति का सामना कर लेता है, किन्तु अनैतिक आचरण नहीं करता या कर ही नहीं सकता। इसका हेतु है करुणा का विकास, आत्मौपम्य की भावना का विकास। जिसके अन्त:करण में करुणा प्रवाहित नहीं होती, वह सही अर्थ में साम्यवादी या समाजवादी नहीं हो सकता है और यह भी सच है कि राजनीतिक साम्यवाद की मर्यादा में मानवीय करुणा को वह स्थान नहीं मिल सकता, जो सत्ता-संग्रह को मिलता है। पूंजीवादी समाज अर्थशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है। मानव के प्रति करुणा को प्राथमिकता कहीं भी प्राप्त नहीं है। वह केवल अहिंसक समाज में ही हो सकती है। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता का मूल्य सर्वोपरि नहीं होगा। उसमें सर्वोपरि मूल्य होगा मानवता का।

जीवन निर्वाह की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित माना है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएं होती हैं। इच्छा पर नियंत्रण करना सभी समाजों में मान्य होता है। यह समाज की एकरूपता है। नियंत्रण का तारतम्य और उसके प्रेरक हेतु सबमें एकरूप नहीं होते। नियंत्रण के चार प्रकार हैं—1. भौतिक, 2. राजनीतिक, 3. सामाजिक, 4. नैतिक या आध्यात्मिक। उनके प्रेरक हेतु क्रमश: प्रकृति-भय, राज्य-भय, समाज-भय और आत्मपतन-भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी हैं और आखिरी आन्तरिक हैं। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए जहां दण्ड की आशंका हो, वहां उनकी मर्यादा का पालन और जहां वह न हो वहां मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है। आत्मिक नियंत्रण दण्ड प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक जागरण है। इसलिए उसमें बाहर-भीतर का द्वैत नहीं होता। प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकान्त में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। यह भय रखने वाला बाहर की किसी भी शक्ति से नहीं डरता, इसलिए सही माने में वह अभय है। अहिंसक समाज-व्यवस्था में नियंत्रण का प्रेरक हेतु आत्म-पतन का भय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है, जो आत्मपतनकारक नहीं होती। आवश्यकता-पूर्ति का क्रम हिंसा को उत्तेजना देने वाला नहीं होता। आवश्यकताएं अधिक रहें, वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन नहीं सकती। उसके बिना अहिंसा केवल औपचारिक हो जाती है। इसलिए आवश्यकताएँ कम करना भी अहिंसक समाज-व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकताएं निर्वाह-मूलक नहीं होती। वे इच्छा पर नियंत्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियंत्रण नहीं होता है, तब आवश्यकता बढ़ती है। जब आवश्यकताएं बढ़ती हैं नैतिक निष्ठा कम होती है। अहिंसा औपचारिक बन जाती है। औपचारिक अहिंसा से वह शांति नहीं मिलती, जो उससे मिलनी चाहिए। इसलिए अहिंसक समाज-व्यवस्था का सबसे पहला प्रधान लक्ष्य है—इच्छा का नियंत्रण।

कानून का विधि-विधान व्यक्ति को विकार-पक्ष से स्वभाव-पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव-पक्ष से हित पक्ष की ओर जाने की साधना है। जब विकार और स्वभाव में विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है, तब आध्यात्मिक, नैतिक या व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित को परिभाषा की संज्ञा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्त्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्त्तव्य है। दूसरे के लिए पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिए पूर्ववर्ती का त्याग) कर्त्तव्य की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह स्वभाव के लिए विकार का और हित के लिए स्वभाव का त्याग करता है।

जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वही उसका कर्त्तव्य माना जाए तो अकर्त्तव्य जैसा कुछ शेष ही नहीं रहता। शोषण, संग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वत: स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी असंग्रह के प्रति नहीं होती किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढंकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है, इसलिए यह अकर्त्तव्य है। वैध ढंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार-प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यकता या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिए वह सामान्य कर्त्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस में स्वाभाविक प्रेरणालभ्य नहीं है, इसलिए ये प्रधान कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार अहिंसक समाज साम्यनिष्ठ और शासन-मुक्त होगा। साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज रचना का आधारभूत तत्त्व है— मानसिक विकास। यह मानसिक विकास क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के उपशमन से होता है। इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिए बिना साम्यनिष्ठ शासनमुक्त समाज रचना की आशा नहीं की जा सकती। साम्यवादी राष्ट्रों ने समाज के भौतिक आधार में साम्य लाने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप उनकी जनता साम्यवादी हो गई किन्तु साम्यनिष्ठ नहीं हुई। जिसमें साम्य की निष्ठा नहीं होती, वह शासनमुक्त नहीं हो सकता। जिस समाज में उच्चता और हीनता, ठगाई और अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने की मनोवृत्ति होती है, वह शासनमुक्त कैसे हो सकता है?

अहिंसक समाज में भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आन्तरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रिया समन्वित होगी, इसीलिए वह शासन मुक्ति की ओर सतत गतिशील होगा। शासनमुक्त समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति की संग्रह-परायण मनोवृत्ति। हर आदमी अर्थ का संग्रह करता है और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। क्या अहिंसक समाज में यह व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य हो सकता है?

प्रवृत्ति का विकास प्रेरणा से होता है। अपने सुख और अपने स्वत्व की प्रेरणा बहुत प्रबल होती है। वैयक्तिकता को विलुप्त करने से विकास की प्रेरणा क्षीण हो जाती है और उसे अमर्यादित छूट देने से वह उच्छृंखल हो जाती है। अत: अहिंसक समाज में व्यक्तिगत स्वामित्व एक सीमित अर्थ में ही मान्य हो सकता है। अहिंसक समाज का दूसरा पहलू होगा अपरिग्रही समाज। अहिंसा व अपरिग्रह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। अहिंसक समाज का मुख्य सूत्र है—इच्छा संयम, संग्रह संयम और प्रवृत्ति का विकेन्द्रीकरण। इच्छा का विस्तार, अर्थ का केन्द्रीकरण और हिंसा—ये साथ-साथ चलते हैं। अहिंसक समाज का सदस्य व्यक्तिगत धन कितना रखे, यह संख्या निर्धारित करना बड़ा जटिल है। इसका सरल सूत्र यह हो सकता है—''जितनी आवश्यकता उतना संग्रह''। अहिंसक समाज का सदस्य संयमी होगा। अत: वह अवास्तविक आवश्यकताओं का अंबार खड़ा नहीं करेगा। उसका संग्रह दो नियामक तत्त्वों से नियंत्रित होगा—

1. अर्जन के साधनों की शुद्धि, 2. विसर्जन।

अहिंसक समाज में साधन-शुद्धि का साध्य से कम मूल्य नहीं होगा। अत: अहिंसक समाज का सदस्य अर्जन के साधनों की शुद्धि का पूर्ण विवेक रखेगा। अर्जन के साधनों की शुद्धि रखते हुए उसे जो अर्थ प्राप्त हो, वह उसके लिए अग्राह्य नहीं होगा। अहिंसक समाज की आवश्यकता व्यक्तिगत संयम के द्वारा नियंत्रित होगी। अत: उसका सदस्य अतिरिक्त अर्थ का विसर्जन कर देगा। वह विसर्जित अर्थ सामाजिक कोष के रूप में संग्रहीत होगा। समाज-कल्याण के लिए उसका उपयोग होता रहेगा। भगवान् महावीर ने अहिंसा व्रती के लिए दो सूत्रों का प्रतिपादन किया था—

1. अल्प आरंभ, 2. अल्प-परिग्रह।

वर्तमान की भाषा में अल्प आरंभ लघु व्यवसाय या लघु उद्योग और अल्प परिग्रह का अर्थ आवश्यकतापूरक व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। अहिंसक समाज में महाआरंभ (वृहत् व्यवसाय या वृहत् उद्योग) और महापरिग्रह (विपुल संग्रह) व्यक्तिगत नहीं होंगे। उनका सामाजीकरण दंडशक्ति के आधार पर नहीं, किन्तु विसर्जन के आधार पर होगा। क्या अहिंसक समाज रक्षा के लिए पुलिस और सेना पर निर्भर होगा या उसे उनकी उपेक्षा नहीं होगी? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि देश की आंतरिक सुरक्षा का दायित्व पुलिस पर और बाहरी आक्रमण की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है। अहिंसक समाज की स्थापना होने पर आंतरिक मामलों में सेना के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और पुलिस की आवश्यकता भी कम से कम होगी। अहिंसक समाज में अणुव्रत का यह व्रत अनिवार्यत: पालनीय होगा—'मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।' अहिंसक समाज में सेना आक्रमणकारी नहीं होगी। उसका काम केवल अपनी सीमा की सुरक्षा करना ही होगा। पुलिस व सेना से मुक्त समाज की कल्पना प्रिय बहुत हैं पर व्यवहार की भूमिका में उसका अवतरण अल्पकाल और साधारण प्रयत्नसाध्य नहीं है। निष्कर्ष की भाषा में निकट भविष्य में उसकी संभावना नहीं है। अहिंसक समाज की संरचना के सामने सबसे बड़ी समस्या है। मूल्यों का परिवर्तन, श्रम, वस्तु और संग्रह के मूल्य बदले बिना अहिंसक समाज-रचना की संभावना नहीं की जा सकती।

अहिंसक समाज की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है—स्वार्थ। वह वैयक्तिक बड़प्पन और सुखानुभूति की प्रेरणा है। उसे कैसे बदला जाए? क्या जन-साधारण किसी सैद्धान्तिक प्रेरणा की सामाजिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार हो सकता है? इसमें भी हित-साधन की भावना कुछ ही लोगों में जागृत होती हैं। अधिकांश लोग अपने हित-साधन की चेष्टा में लगे रहते हैं। इस समस्या का आधारभूत आश्वासन यह है कि मानव-स्वभाव सतत् गतिशील और विकासशील है। यदि समाज की धारा को एक ही धारा में प्रवाहित किया जाए तो स्वार्थ-संयम की बात उसके संस्कारों में रूढ़ हो सकती है। इस कार्य की निष्पत्ति में आध्यात्मिक वातावरण, आंशिक रूप में सामाजिक दबाव और सत्याग्रह अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं। स्वार्थशासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलंबन का अवमूल्यन हो जाता है। करुणाशासित समाज में नैतिकता श्रम और स्वावलंबन का मूल्य बढ़ जाता है।

हिंसक समाज और अहिंसक समाज—ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं। कोई भी समाज ऐसा नहीं हो सकता, जो केवल हिंसा या अहिंसा के आधार पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा करनी पड़ती है। अपनी और अपने व्यक्तियों तथा वस्तुओं की सुरक्षा के लिए हिंसा की बाध्यता आती है। इस स्थिति में विशुद्ध अहिंसक समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है। समाज की रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। यदि मनुष्य हिंसक जानवरों की भांति एक-दूसरे को खाने दौड़ते तो समाज का निर्माण ही नहीं होता। एक-दूसरे के हितों में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अत: विशुद्ध हिंसक समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—''समाज हिंसा और अहिंसा दोनों के योग से चलता है। कोरी अहिंसा के बल पर नहीं चल पाता और कोरी हिंसा के बल पर टिक नहीं पाता।'' इस दुनिया में वही समाज अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकता है, जो शक्तिशाली है। शक्ति के स्रोत तीन हैं—अर्थ, सत्ता और धर्म।

अर्थ और सत्ता—ये दोनों हिंसा के आधार पर चलते हैं और जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। धर्म का आधार है—अहिंसा। वह जीवन को उच्चता प्रदान करता है। समाज-रचना के मूल में अर्थ और धर्म दोनों हैं। पर सामाजिक व्यक्ति को अर्थ जितना अनिवार्य लगता है, उतना धर्म नहीं लगता। उसका प्रथम आकर्षण अर्थ के प्रति, दूसरा सत्ता के प्रति और तीसरा धर्म के प्रति है। इसलिए अर्थ और सत्ता के पास जितना शक्तिसंचय है, उतना धर्म के पास नहीं है। इस परिस्थिति में अहिंसक समाज की रचना का प्रश्न बहुत उलझनें उत्पन्न कर देता है।

इन दोनों को परिभाषा में बांधना, इनके बीच भेद-रेखा खीचना सरल कार्य नहीं है, फिर भी व्यवहार-संचालन के लिए ऐसा करना ही होगा। जिस समाज में अर्थ और काम की प्रधानता और आचार्य-धर्म की गौणता या अवहेलना होती है वह हिंसक समाज कहलाता है। जिस समाज में अर्थ, काम और धर्म—तीनों की संतुलित उपासना होती है, वह अहिंसक समाज कहलाता है। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा से प्रभावित होते हैं। हिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा पर आवरण डाल देते हैं।

इस अर्थ की प्रधानता से आज का समाज हिंसा के चक्रव्यूह में फंस गया है। हिंसक समाज में ये तत्त्व फलते-फूलते हैं—

1. अर्थ और सत्ता के केन्द्रीकरण
2. स्वार्थ का उन्मुक्त प्रयोग
3. गलत मूल्यों की स्थापना
4. श्रम का अवमूल्यन
5. अनैतिकता का उत्कर्ष।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसक समाज में इन तत्त्वों को विकसित होने का अवसर मिलता है—

1. अर्थार्जन के साधनों की शुद्धि
2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण
3. मूल्यों की यथार्थता
4. श्रम का उचित मूल्यांकन
5. नैतिकता का विकास
6. कर्त्तव्य की प्रेरणा
7. स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ-संतुलन।

व्यक्ति को अहिंसा से प्रशिक्षित किया जा सकता है, समाज और राष्ट्र को नहीं। इस अवधारणा को सापेक्ष दृष्टि से ही स्वीकार किया जा सकता है। व्यक्ति और समाज को विभक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्ति समाज से प्रभावित होता है और समाज व्यक्ति से प्रभावित होता है। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध हैं। व्यक्ति का अंतर्जगत् उसकी वैयक्तिकता है, उसका विस्तार है समाज। सामाजिक परिवर्तन या क्रांति चाहे राजनैतिक हो या आध्यात्मिक, हम व्यक्ति को गौण नहीं कर सकते।

5.4.5 पर्यावरणीय चिन्तन

पर्यावरण संबंधी सभी समस्याओं की जड़ मनुष्य की वासनाओं, तृष्णाओं एवं एषणाओं में है। प्रत्येक मनुष्य अनन्तकाल तक जीवित रहकर अनन्त अनवरत सुख या आनन्द का उपभोग करना चाहता है। उसे शारीरिक सुख के लिए भोजन, वस्त्र और आवास की आवश्यकता होती है। किन्तु वर्तमान जगत् में आवश्यकता संबंधी जिस सच्चाई का प्रतिपादन किया जा रहा है, उससे यह सच्चाई भिन्न है। आवश्यकता की पूर्ति को अनुचित नहीं माना जा सकता, किन्तु प्रश्न है मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं कितनी हैं? वे बहुत सीमित हैं। यदि आवश्यकता के आधार पर चला जाता तो दुनिया के सामने पर्यावरण का संकट पैदा नहीं होता, पर्यावरण की समस्या से विश्व संत्रस्त नहीं होता। व्यक्ति ने तन की तृष्णा के स्थान पर मन की तृष्णा को बिठा दिया। जब मन की तृष्णा जाग जाती है तब आवश्यकताएं बढ़ती चली जाती हैं। तृष्णा और इच्छा का कोई अन्त नहीं है, कोई सीमा नहीं है। महावीर ने कहा—"इच्छा हु आगाससमा अणंतिया"-इच्छा आकाश के समान अनंत है। जब इच्छा अनंत और असीम बन जाती है तब विनाश अवश्यंभावी बन जाता है।

वर्तमान में बौद्धिक जगत की एक प्रमुख चिन्ता है—पर्यावरण असंतुलन। इसका एक कारण है नाभिकीय विस्फोट। वैज्ञानिक बतलाते हैं—यदि नाभिकीय युद्ध हुआ, अणुयुद्ध हुआ तो विश्वस्थिति में भारी परिवर्तन हो जायेगा। जीव जगत् बिल्कुल नष्ट हो जायेगा। कहीं भयंकर सर्दी पड़ेगी, कहीं भयंकर गर्मी पड़ेगी। सारे हिमखंड पिघल जायेंगे। समुद्र का जल-स्तर दो-तीन मीटर ऊंचा चला जाएगा। समुद्र तट पर बसे नगर और बस्तियां डूब जायेंगी, उसके आस-पास का स्थल भू-भाग जलमय बन जाएगा। एक प्रकार से हिमयुग आएगा, केवल पानी ही पानी दिखाई देगा। यह नाभिकीय विस्फोट और अणुयुद्ध से बनने वाली स्थिति है।

दूसरा कारण है—वनों की अंधाधुंध कटाई। सारे संसार में वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। उसके कारण Co_2 (कार्बन-डाई-ऑक्साइड) की मात्रा पच्चीस प्रतिशत बढ़ गई है। जितनी Co_2 की मात्रा बढ़ती है उतना ही वातावरण भयंकर हो जाता है, तापमान बढ़ जाता है। ओजोन की छतरी, जो एक सुरक्षा कवच का कार्य करती है, टूटती चली जा रही है। कुछ देशों के अविवेक का परिणाम सारे विश्व पर पड़ रहा है। प्रश्न है—यह संतुलन क्यों बिगड़ रहा है? इसका कारण है—मनुष्यों में असंयम बढ़ गया है। असंयम के कारण ही खनिज का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। इस वैज्ञानिक युग में जीने वाले वैज्ञानिक और भौतिक मनुष्य क्या भविष्य की कल्पना नहीं करते? क्या खनिज का अतिरिक्त दोहन कर वे भावी पीढ़ियों को दरिद्र नहीं बना रहे हैं? जो खनिज सम्पदा हजारों वर्ष तक काम आ सके, यदि वह सौ वर्षों में समाप्त हो जाए तो क्या स्थिति होगी? आने वाली पीढ़ी कहेगी हमारे पूर्वजों ने हमारे साथ क्या किया। भगवती में भविष्य सम्बन्धी तथ्यों के संदर्भ में जैन काल-गणना के अनुसार अभी पांचवा आरा चल रहा है। जब पांचव आरा (कालखण्ड) पूरा होने वाला होगा, छठा आरा (कालखंड) प्रारम्भ होगा तब इस विश्व में विचित्र स्थितियां बनेंगी। उस समय की स्थिति का वर्णन लोमहर्षक हैं। सबसे पहले समवर्तक वायु चलेगी। वह इतना प्रलयंकारी होगी कि पहाड़ भी प्रकम्पित हो जाएंगे। यह समवर्तक वायु इतना भयंकर होगी कि पहाड़ और गांव नष्ट हो जाएंगे। उनका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाएगा। तीव्र आंधि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ायां चलेंगी, जिससे सारा आकाश और सारी धरती धूल से भर जाएगी। चन्द्रमा इतना ठण्डा हो जाएगा कि रात को कोई आदमी बाहर नहीं निकल पाएगा। सूर्य इतना गर्म होगा, इतना तप्त होगा कि आदमी झुलस जाएंगे। भयंकर ठंड और भयंकर गर्मी। बारिश भी होगी पानी की नहीं, अग्नि की वर्षा होगी, अंगारे बरसेंगे। आज कहा जा रहा है जब परमाणु विस्फोट होगा नाभिकीय युद्ध होगा तब आकाश अग्नि की लपटों से भर जाएगा, जीवजगत् प्रायः समाप्त हो जाएगा। जो बचेंगे वे अंधे, बहरे और रुग्ण रहेंगे।

भगवती सूत्र में कहा गया जो मेघ बरसेंगे, वे रोग बढ़ाने वाले होंगे। उसका परिणाम होगा—मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े नष्ट हो जाएंगे। पहाड़ों में केवल एक वैताट्य पर्वत बचेगा, जिसे आज हिमालय कहा जाता है। शेष सारे पहाड़, अरावली और विंध्याचल की घाटियां अपना अस्तित्व खो देंगी। जो कुछ लोग बचेंगे, वे हिमालय की गुफाओं में रह जाएंगे। वे न दिन में बाहर निकल सकेंगे, न रात में बाहर निकल सकेंगे। केवल संधिकाल में थोड़े समय के लिए बाहर आ पाएंगे। नदियां प्रायः सूख जाएंगी। केवल गंगा और सिन्धु का थोड़ा-सा तट अवशेष रहेगा। वे बचे लोग कुछ मछलियां खाकर जैसे-तैसे अपने जीवन का यापन करेंगे।

वास्तव में आज के संदर्भ में इस भविष्यवाणी का अध्ययन करे तो यह सत्य प्रतीत होता है। आज विश्व विनाश के कगार पर पड़ा है। इसका कारण है अर्थशास्त्र का अनसोचा-अनसमझा सिद्धान्त। अर्थशास्त्र का अभिमत है जितनी इच्छा बढेगी, उतना ही उत्पादन बढ़ेगा, जितना उत्पादन बढेगा, उतनी ही समृद्धि बढेगी। इस सिद्धान्त ने वास्तव में विनाश को निमंत्रण दे दिया है। अगर अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त नहीं होता है तो इकॉलोजी (Ecology) के विकास की जरूरत नहीं होती। इसीलिए सृष्टि-संतुलन के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु जब तक अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन, व्यवहार को संचालित कर रहा है तब तक सृष्टि-सन्तुलन की चिन्ता को समाधान नहीं मिलेगा। सृष्टि-सन्तुलन के लिए, पर्यावरण के लिए, अर्थाशास्त्र की वर्तमान अवधारणाओं को बदलना होगा। उन्हें बदले बिना इन समस्याओं को समाहित नहीं किया जा सकता।

पर्यावरण विज्ञान का एक सूत्र है—लिमिटेशन (Limitation) पदार्थ की सीमा है। कोई भी पदार्थ असीम नहीं है। क्या पदार्थ की सीमा का यह सूत्र संयम का सूत्र नहीं है? पर्यावरण विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है—पदार्थ सीमित है, इसलिए उपभोग कम करो। पदार्थ का उपभोग कम हो, पानी का व्यय कम किया जाए, उपभोग का संयम किया जाए, यह सूत्र धर्म का नहीं, पर्यावरण-विज्ञान का है किन्तु सच्चाई दोनों में एक है। धर्म का आदमी कहेगा—कम खर्च करो, संयम करो। पर्यावरण विज्ञानी की भाषा है—पदार्थ कम है, उपभोक्ता अधिक है, इसलिए भोग की सीमा करो। महावीर के भोगोपभोग के संयम का जो व्रत दिया, वह पर्यावरण विज्ञान का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पदार्थ ज्यादा काम में मत लो, अनावश्यक चीज को काम में मत लो, यह है संयम और इसी का नाम अहिंसा है, पर्यावरण-विज्ञान है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य की तृष्णाओं, ऐषणाओं, वासनाओं, लोभ-वृत्ति, शारीरिक पुष्टि एवं सौन्दर्य वर्द्धन, रोगों से निवृत्ति, दीर्घ जीवन की लालसा, सुरक्षा एवं संरक्षा की वृत्तियों आदि ने पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं को जन्म दिया है। पृथ्वी के अन्य सजीव किन्तु निरीह घटकों जैसे कि पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों ने इसमें योगदान कतई नहीं दिया है। ये तो प्रकृति के माध्यम से परमात्मा या परब्रह्मा के अनुशासन में रहते आ रहे हैं। बाहरी पर्यावरण के प्रति छोटे से छोटे प्राणी के प्रति यदि संवेदनशीलता है तो अपने घर व पास पड़ौस में रहने वाले व्यक्तियों के प्रति भी उतनी ही संवेदनशीलता होगी और परिवार, परिजन, मित्र और पड़ौसी से हमारा व्यवहार भी संतुलन वाला एवं संवेदनशील होगा। अतः प्राणी मात्र के प्रति संवेदनशीलता ही पर्यावरण संरक्षण का मूलमंत्र बन सकती है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शुद्धि हेतु यह आवश्यक है कि मानवीय मानसिक प्रदूषण को नियंत्रित, संयमित एवं संतुलित कर उसे जनोपयोगी बनाया जाए।

5.4.6 अहिंसा-प्रशिक्षण

भारतीय शैक्षाकि व्यवस्था (संरचना) में जीवन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-प्रशिक्षण के कार्यक्रम चले आ रहे हैं। जीवन व इससे जुड़े हुए विभिन्न पक्षों को नैतिक अवधारणा प्रदान करने हेतु कई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार के मूल्यपरक शैक्षणिक कार्यक्रम आज के समय की मांग है। इसी को दृष्टिगोचर रखते हुए भारत व विदेश में विभिन्न संस्थाओं में मूल्यपरक शिक्षा, शांति शिक्षा तथा अहिंसा के शिक्षण एवं प्रशिक्षण के कार्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति उपरान्त विश्वशांति स्थापना हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) की स्थापना की गई। किंतु अपने शांति स्थापना के प्रयासों में राष्ट्रसंघ असफल ही साबित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतराल में फिर ऐसे प्रयास किये गये जिससे शांति एवं अहिंसा की संस्कृति सुरक्षित रखी जा सके। U.N.O. इसी प्रकार के प्रयासों की परिणति थी। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर कई अन्य अनेक संस्थाएं भी शांति स्थापना हेतु कार्यरत हुई जिससे मुख्यत: इनका नाम लिया जा सकता है—

(1) SIPRI (2) IPRA (3) WRI (4) Peace Brigade (5) Peace Corps

इन उपरोक्त संस्थाओं का मुख्य कार्य शांति स्थापना एवं शांति स्थापित करना था तथा लक्ष्य की प्राप्ति हेतु इन्होंने साधन के रूप में मुख्य रूप से सामाजिक सेवाओं को ही अपने कार्यक्रमों में स्थान दिया जिसके अंतर्गत शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध, स्वास्थ्य एवं सफाई सेवाएं आदि हैं, प्रमुख रही। अपनी-अपनी क्षमताओं एवं स्तर के अनुसार इन संस्थाओं में अहिंसा स्थापना हेतु मानव अधिकार, शांति एवं अहिंसा के नवीन एवं मौलिक शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरु किये। भारत में भी इसी प्रकार के प्रयासों के लिए कई प्रकार के गांधीवादी एवं सर्वोदयी आश्रमों की स्थापना की गई। जैसे कुमाऊं एवं गढ़वाल में गांधी पश्चात् स्थापित सर्वोदयी आश्रमों से सुंदरलाल बहुगुणा, चंडीप्रसाद भट्ट एवं अनेक शांति कार्यकर्त्ताओं की नई पीढ़ी सामने आई। कई प्रकार के सुधारवादी आंदोलनों—अणुव्रत आंदोलन एवं स्वाध्याय आंदोलनों ने भी अहिंसा के शिक्षण एवं प्रशिक्षण हेतु उल्लेखनीय कार्य किया। अहिंसा का दर्शन, प्रयोग, शोध, शिक्षण-प्रशिक्षण की श्रृंखला में आचार्य महाप्रज्ञ की देन आधुनिक युग को विरल योगदान हैं। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया को सहजता एवं सरलता से सम्पन्न किया जा सकता है।

5.4.7 प्रविधि

अहिंसा प्रशिक्षण के इतिहास में विभिन्न संस्थाओं द्वारा विभिन्न प्रकार की तकनीकों का सहयोग लिया जा सकता है, जैसे भारत व अंतर्राष्ट्रीय जगत में स्थापित गाँधीवादी आश्रम, गांधी के द्वारा प्रतिपादित 11 व्रतों को ही मुख्यता प्रशिक्षण को आधारित बनाते हैं। दूसरी ओर WRI मनुष्य में हिंसा के प्रति विरति आ जाये, इस हेतु विशिष्ट प्रकार का प्रशिक्षण आयोजित करता है। जिसमें वनस्पति से जीव हत्या तक उभरी हुई संवेदनाओं को परिवर्तित करने हेतु कार्य होता है। E.M.U. (ईस्टर्न मेनेनाइट यूनिवर्सिटी) वर्जिनिया U.S.A. में Summer Peace Institute के द्वारा आयोजित ग्रीष्म काल के पाठ्यक्रमों में अहिंसा के सिद्धान्त, संघर्ष निवारण, धार्मिक संघर्ष, मानवाधिकार तथा अहिंसा प्रशिक्षण के लिए विशिष्ट प्रकार का एक पाठ्यक्रम संचालित किया जाता है। भारत में भी जैन विश्वभारती संस्थान द्वारा अहिंसा प्रशिक्षण के लिए ध्यान, प्राणायाम आदि के द्वारा हृदय परिवर्तन करवाने का प्रयास करवाया जाता है। वास्तव में हृदय परिवर्तन ही अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम सफल चरण है।

5.5 सारांश

निष्कर्षत: आचार्य महाप्रज्ञ ने जहां अहिंसा दर्शन की शास्त्रीय विवेचना की वहीं इसके व्यवहार, शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु सबल सूत्र एवं समर्थ तकनीक का प्रतिपादन भी किया। वैयक्तिक स्तर पर अहिंसा की प्रतिष्ठा, अनेकान्त के आधार पर आध्यात्मिक, वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण, सामाजिक स्तर पर अहं विलय, परस्परता, त्याग एवं अर्जन के साथ विसर्जन की चेतना के जागरण के आधार पर तथा अहिंसा को वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित करने हेतु अहिंसा क्षेत्र में कार्य करने वाली संस्थाओं को संयुक्त राष्ट्र मंच के समान संगठित एवं प्रभावशाली बनाने का विचार प्रस्तुत कर अहिंसा शास्त्र के अन्तर्गत प्राय: प्रस्तुत होने वाली शंकाओं का समाधान आचार्य महाप्रज्ञ के दर्शन, चिन्तन एवं साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होकर अशांत विश्व को शांति का संदेश देने में उल्लेखनीय भूमिका निभा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. ''निकला था सत्य की खोज में, हाथ लगी अहिंसा।'' किसका कथन है—
   (अ) गाँधी (ब) विनोबा (स) आचार्य महाप्रज्ञ ( )
2. गाँधीजी के अनुसार अहिंसा की कितनी विशेषताएँ हैं—
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 6 ( )
3. अहिंसा की कसौटी के कितने सूत्र हैं—
   (अ) 7 (ब) 9 (स) 11 ( )
4. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार मनुष्य-मनुष्य में कितने प्रकार के भेद हैं—
   (अ) 7 (ब) 5 (स) 3 ( )
5. अहिंसा-प्रशिक्षण के कितने घटक हैं—
   (अ) 3 (ब) 4 (स) 5 ( )

लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. गाँधी अहिंसा की अवधारणा एवं स्वरूपका वर्णन करें।
2. अहिंसा के प्रयोग एवं सत्याग्रह में क्या संबंध हैं?
3. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार अहिंसा के दार्शनिक आधार की चर्चा करें।
4. अहिंसक समाज रचना के क्या लक्षण हैं?

निबंधात्मक प्रश्न—

1. आत्मशक्ति एवं अहिंसा में संबंध स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न पक्षों का वर्णन करें।
2. हिंसा के कारणों को स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि क्या अहिंसा युद्ध का समाधान है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

ykMu& &341306 ¼jkt LFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (प्रथम वर्ष)

विषय : अहिंसा एवं शांति

प्रथम पत्र :

अहिंसा एवं शांति : भारतीय दृष्टि

lox

संवर्ग–1	अहिंसा का स्वरूप एवं औचित्य
संवर्ग–2	वेद, उपनिषद् एवं सांख्य योग में अहिंसा
संवर्ग–3	महाभारत एवं गीता में अहिंसा
संवर्ग–4	जैन एवं बौद्ध धर्म में अहिंसा
संवर्ग–5	महात्मा गाँधी, विनोबा एवं आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fo'k"kK lfefr

1- ik- jk/kkÑ".k] fnYyh
2- ik- t ;a dk'ke] enjbZ
3- ik- t-,u- 'kekZ] p.Mhx<+
4- ik- cPNjkt nxM+] ykMuw
5- Mk- vfuy /kj] ykMuw
6- Mk- lR;a dsrdh] ykMuw

y[kd

डॉ. अनिल धर

lEikndd

Mk- f'koukjk;.k tks'kh

dkihjkbV

tSu fo'oHkkjrh lLFkku] ykMuw

uohu lLdj.k % 2014

efnzr izfr;k % 500

izdk'kd %

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रमणिका

इकाई-1	अहिंसा, हिंसा का स्वरूप एवं क्षेत्र, हिंसा का अनौचित्य, अहिंसा का स्वरूप एवं आवश्यकता, अहिंसा का आदिस्रोत, आत्मा का अस्तित्व एवं अहिंसा, अहिंसा व्यापक एवं विधायक, अहिंसा-उच्च सक्रिय भावना	1-20
इकाई-2	(अ) वेद एवं उपनिषद् में अहिंसा एवं शांति (ब) सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति	21-33
इकाई-3	महाभारत एवं गीता — प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति, निष्काम कर्म, समत्व योग, दण्ड एवं अहिंसा	34-61
इकाई-4	(अ) जैन — अहिंसा का स्वरूप, आधार एवं अहिंसा के विविध रूप, अहिंसा एक पर्यावरणीय सिद्धान्त (ब) बौद्ध — अपराध और पाप के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण, करुणा का दर्शन एवं अशोक की व्यावहारिक अहिंसा	62-91
इकाई-5	(अ) महात्मा गाँधी एवं विनोबा का अहिंसा दर्शन (ब) आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन	92-117

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठ्यक्रम

इकाई–1 अहिंसा, हिंसा का स्वरूप एवं क्षेत्र, हिंसा का अनौचित्य, अहिंसा का स्वरूप एवं आवश्यकता, अहिंसा का आदिस्रोत, आत्मा का अस्तित्व एवं अहिंसा, अहिंसा व्यापक एवं विधायक, अहिंसा–उच्च सक्रिय भावना

इकाई–2 (अ) वेद एवं उपनिषद् में अहिंसा एवं शांति
(ब) सांख्य योग में अहिंसा एवं शांति

इकाई–3 महाभारत एवं गीता — प्रवृत्ति बनाम निवृत्ति, निष्काम कर्म, समत्व योग, दण्ड एवं अहिंसा

इकाई–4 (अ) जैन — अहिंसा का स्वरूप, आधार एवं अहिंसा के विविध रूप, अहिंसा एक पर्यावरणीय सिद्धान्त
(ब) बौद्ध — अपराध और पाप के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण, करुणा का दर्शन एवं अशोक की व्यावहारिक अहिंसा

इकाई–5 (अ) महात्मा गाँधी एवं विनोबा का अहिंसा दर्शन
(ब) आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा दर्शन

उद्देश्य —

(अ) अहिंसा के स्वरूप, प्रकार, अवधारणा, प्रारम्भ, आवश्यकता, उपयोगिता आदि को स्पष्ट करना

(ब) भारतीय संस्कृति में अहिंसा के विकास के इतिहास को रेखांकित करना

(स) सामान्य जन में अहिंसा की स्वीकार्यता को स्थापित करना

(द) अहिंसा की प्राचीन एवं आधुनिक विचारों की प्रासंगिकता को परखना

(य) दैनन्दिन जीवन में अहिंसा का व्यवहार किस रूप में समाविष्ट हो सकता है, उसे स्पष्ट करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun